संस्कार

(1)

राजसभा में दरबार लगा हुआ है। मध्य में स्वर्ण का सिंहासन है। उस सिंहासन के छत्र में वैडूर्य मणि जड़ा हुआ है। जिसकी नीली-नीली आभा चारों तरफ अपना नील प्रकाश फैलाकर राज भवन में मानों नीले-नीले आकाश को ही उतार लाई है। सिंहासन के पृष्ठ भाग में भामंडल के स्थान पर पद्मराग मणियाँ जड़ी हुई हैं, जो कि प्रभात के उदित होते हुए सूर्य की अरुणिमा से दिशाओं को राग से रंजायमान अरुणित कर रही हैं। उस सिंहासन पर महाराज अरविन्द बैठे हुए हैं। भवन में सर्वत्र रेशमी वस्त्रों के पर्दे टंगे हुए हैं जो कि मंद-मंद पवन के झकोरों से लहराते हुए गगन में ध्वजाओं के समान प्रतीत हो रहे हैं। मोती, मूँगा जिनके मध्य में गूँथे हुए हैं ऐसे बेला, चमेली और गुलाब पुष्पों के हार चारों तरफ लटकते हुए अपनी मनोहर सुरभि से सभा भवन को सुरभित कर रहे हैं। मयूर यंत्र सामने कुछ दूर पर खड़ा है जिसके कल को घुमाते ही पंख फैलाकर नाचने लगता है और तभी

उसके पंखों से गुलाब जल की छोटी-छोटी फव्वारें निकलकर सभा-भवन में सुगंध मिश्रित शीतलता फैला रही हैं। ऊपर में तने हुए चंद्रोपक में मरकत मणियाँ लगी हुई हैं जो कि खेतों के धान्य के अंकुरों की हरीतिमा से बरबस ही दिशाओं को हरित कर रही हैं।

अतिशय कुशल प्रौढ़ मंत्री महोदय गंभीर मुद्रा को लिए हुए आज महाराज अरविन्द के निकट आये हैं। महाराज मधुर मुस्कान से उनकी ओर देखते हुए यथोचित आसन पर बैठने का संकेत करते हैं। मंत्री महोदय हाथ जोड़कर विनय-वृत्ति को साकार करते हुए पुनः अपने आसन पर बैठ जाते हैं।

'कहिए मंत्रिवर! सर्वत्र राज्य में कुशल तो है ना?'

'हाँ महाराज! आपके प्रसाद से सर्वत्र कुशल मंगल है। सचमुच में इस समय पोदनपुर आपके प्रसाद को प्राप्त कर साक्षात् भगवान बाहुबली के राज्यसुख का स्मरण किया करता है। शहर में अनीति तो प्रवेश ही नहीं कर पाती है क्योंकि नीतिदेवी ने उसका इस शहर से बहिष्कार ही कर दिया है और उसके लिए यहाँ के ऊँचे-ऊँचे कोटों का उल्लंघन करके अंदर आना सर्वथा अशक्य ही हो गया है। महाराज! शहर के चारों तरफ की जो सुंदर खातिका है उसमें खिले हुए सफेद कुमुद पुष्प अपनी सुरभि द्वारा दशों दिशाओं में सर्वत्र आपके उज्जवल यश को फैला रहे हैं।'

अरविन्द महाराज एकटक मंत्री के मुख को देख रहे हैं। मंत्री जी कुछ क्षण सोचते रहे पुनः बोलते हैं–

महाराज! आज में आप से सदा के लिए विदाई लेने

आया हूँ।'

अरविन्द महाराज एकदम आश्चर्यान्वित होते हुए बोले- 'ऐ!! मंत्री जी क्या-क्या, आपने क्या कहा? क्या मुझसे कोई नाराजगी का प्रसंग आया है?'

'नहीं-नहीं महाराज! आप अन्यथा न सोचें। प्रभो! आपके पिता और पितामह आदि बुजुर्गों ने तथा मेरे माता-पिता, पितामह आदि बुजुर्गों ने जिस आश्रय को अंत में स्वीकार किया है और जो कि सनातन परम्परा रही है उसी के अनुसार मैं भी अब आपके इस विशाल प्रेम को और गृहवास के कारावास को छोड़कर शाश्वत सुख की खोज में उस संन्यस्त आश्रम से ही प्रेम करना चाह रहा हूँ। महाराज! आप प्रसन्न होइये और मुझे अब शीघ्र ही आज्ञा प्रदान कीजिए।'

महाराज कुछ क्षण के लिए स्तब्ध से हो गये। आकस्मिक आखिर यह घटना क्या है? क्या सचमुच ये ब्राह्मण विश्वभूति अपनी अनुंधरी भार्या को, अपने कमठ और मरुभूति इन युगल पुत्रों को छोड़कर वन में चले जायेंगे? क्या हमारे इस असीम प्रेम को ठुकरा देंगे?

हो सकता है, कोई बड़ी बात नहीं है। जब मनुष्य को वैराग्य हो जाता है तब उसे यह सारा विश्व का सौन्दर्य ओसबिन्दु के समान चंचल दिखाई देने लगता है, ऐसा मैंने शास्त्रों में पढ़ा है और सुना भी है। तो क्या ये मंत्री जी उसी वैराग्य को प्राप्त कर चुके हैं? ऐसा अन्तर्द्वंद्व महाराज के मन में चल ही रहा था कि बीच में ही मंत्री जी महाराज के हृदय के मोह को समझ गये और बोले–

'महाराज! इस संसार में इस जीव का किसके साथ संबंध नहीं हुआ है और यह जीव भला किसके स्नेहपाश में नहीं बँध चुका है, भला किसके साथ इसका प्रणय बंधन नहीं हुआ है जबकि अनंत संसार में अनंत काल से यह जीव घूम रहा है। आज आप मेरे स्वामी हैं, पता नहीं कि अतीत के अनंत भवों में मैंने किस-किसको अपना स्वामी नहीं बनाया है? अथवा मैं स्वयं भी किस-किसका स्वामी नहीं हुआ हूँ? क्या पता मैं कितनी बार कीट, पतंग आदि क्षुद्र योनियों में गया हूँ? क्या पता कितनी बार मैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि स्थावर कायिक जीवों में जन्म ले-लेकर मरता रहा हूँ? क्या पता कि मैंने कितनी बार आपसे भी अधिक वैभवशाली ऐसे महान् राज्य के वैभव भोगे हैं तथा इसी प्रकार से भोगभूमि के, स्वर्गों के सुखों का भी मैंने अनंतों बार अनुभव किया है?

"प्रभो! आज तक भी मुझे शांति नहीं मिली है, बस आज मैं उस अक्षय शांति की खोज में अपने आपको खो देना चाहता हूँ।"

"मंत्रिवर! क्या आपने अपने परिवारजनों से आज्ञा ले ली है? क्या आपके पुत्रों ने खुशी-खुशी आपको वन में भटकने की और घर-घर भिक्षावृत्ति करने की आज्ञा दे दी है?"

"हे राजन्! जब वे दोनों पुत्र आपकी ही आज्ञा में हैं तब वे आपके अनुकूल ही चलेंगे पुनः वे आपकी आज्ञा के बाद आज्ञा क्यों नहीं देंगे? अवश्य देंगे। दूसरी बात यह है कि

मोही पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू आदि कुटुंबीजन सभी स्वार्थ के सगे हैं–सब अपने स्वार्थ के लिए ही रोते हैं और परमार्थ से रोक देते हैं किन्तु अब मैं इन लोगों के रुदन से विचलित होने वाला नहीं हूँ क्योंकि ये लोग मुझे क्या यमराज के मुख से बचा सकेंगे? यदि नहीं, तो फिर इनके मोह में फँसने से क्या लाभ है? अरे! मैंने अनंतकाल तक अनंतों बार परिवारजनों को रोते हुए छोड़ा है। क्या मैंने इस भव से पूर्व में भी अपने पुत्र-पौत्रों को रोते हुए छोड़कर पुनः संभाला था? यदि नहीं, तो अब क्या सोचना है? यह शरीर जड़ है, अशुचि है, विनश्वर है, जरा से जर्जरित होकर गिरने वाला है। इसके पहले ही मैं इस नश्वर शरीर से अविनश्वर सुख का मार्ग प्रशस्त बना लूँ। अब मुझे आप शीघ्र ही आज्ञा दीजिए और इन कमठ कुमार तथा मरुभूति कुमार की रक्षा कीजिए।''

राजा अरविन्द विवश हुए किन्तु मौन मुद्रा से ही स्वीकृति प्रदान करते हैं और कमठ तथा मरुभूति को परंपरागत से आगत मंत्री पद पर सम्मानित करते हैं।

(2)

अरविन्द महाराज आज बहुत ही चिंतित हो रहे हैं और मंत्रशाला में बैठे हुए विचार-विमर्श में व्यस्त हैं। अंत में यह निर्णय होता है कि राजा वज्रवीर्य, जो कि निरंकुश हो चुका है, उसको जीतने के लिए अब शीघ्र ही प्रस्थान कर देना चाहिए।

आज्ञा पाते ही सभी सैनिक युद्ध के लिए सज-धज कर

तैयार हो रहे हैं। सेनापति ने आकर कहा–

'महाराज! सब व्यवस्था हो चुकी है। अब आप हाथी पर सवार होइये, सामने हाथी खड़ा है।'

'महाराज अरविन्द ने पोदनपुर की सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी कमठ कुमार मंत्री पर डाल दी और स्वयं मरुभूति कुमार मंत्री के साथ वज्रवीर्य नगर की ओर सेना सहित प्रस्थान कर गये।

माता अनुंधरी की कुक्षि से दोनों ही पुत्र जन्मे थे किन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि एक पाप है तो दूसरा पुण्य। एक विष है तो दूसरा अमृत, अथवा एक बक (बगुला) था तो दूसरा हंस। कहने का मतलब यही है कि एक ही गर्भ से दुर्जन और सज्जन दो भाई उत्पन्न हुए थे। कमठ अत्यंत कुटिल परिणामी दुष्टात्मा था और मरुभूति अतिशय सरल स्वभावी धर्मात्मा था। कमठ संपूर्ण कुनीति में कुशल था तो मरुभूति न्याय नीति में अतिशय निपुण था। सच ही है खड्ग और कवच दोनों लोहे के होते हैं किन्तु एक देह के खंड-खंड करने वाला है और दूसरा देह की रक्षा करने वाला है।

मंत्री कमठ समय पाकर निरंकुश हो गया और सर्वत्र अन्याय का साम्राज्य फैला दिया। मैं राजा हूँ, वह ऐसा सभी से प्रायः घोषित कर चुका था।

किसी समय उसके कानों में किसी युवती के नूपुरों की झंकार आती है–'सामने हंस गति से चलने वाली युवती रत्नों के सुंदर आभूषणों से अपने सौन्दर्य को द्विगुणित करती

हुई यह कौन है? क्या यह नागकन्या है या देवकन्या है या कोई अप्सरा है? निर्णय होने के बाद..... ओह!! यह तो मेरे लघुभ्राता की भार्या वसुंधरी है। एक क्षण के लिए वह सहम उठा। उसका मन ही उसे धिक्कारने लगा, 'अरे रे....पगले! यह तो अपनी पुत्रवधू के समान है, यह कैसे मिल सकती है?'

किन्तु कुछ मुहूर्त तक भी यह सुंदरी वसुंधरी सामने न होते हुए भी सामने घूम रही है क्योंकि वह दृष्टि में और मन में बस गई है। मन अत्यंत विह्वल हो रहा है।

निद्रा के न आने से नेत्र एकदम लाल ही रहे हैं। उसी समय मानो मित्र के दुःख को बाँटने के लिए सखा कलहंस आ गये। मित्र की ऐसी दुरवस्था को देखकर वह एकदम घबरा गये।

'ओहो मित्र! यह क्या स्थिति बना ली है और मुझे सूचना तक भी नहीं है कि आपका कुछ स्वास्थ्य अस्वस्थ है। हाँ, मैं शीघ्र ही राजवैद्य को बुलाकर लाता हूँ।'

'नहीं-नहीं मित्र! नहीं, मुझे कुछ व्याधि नहीं है, तुम आओ और मेरे पास बैठो। अरे, राजवैद्य मेरा क्या इलाज करेगा? मेरी औषधि तो तुम्हीं हो जो कि समय पर आ गये हो।'

कलहंस कुछ देर तक बैठकर इधर-उधर की बात करता है। पुनः उसके आकुल-व्याकुल हुए तथा मुरझाये हुए मुखकमल को देखकर धीरे से पूछता है–

'कहो मित्र! आखिर तुम्हें किस मानसिक व्यथा ने

पीड़ित किया है? स्पष्ट कहो मैं शीघ्र ही उस वेदना का प्रतिकार करूँगा?'

'क्या कहूँ मित्र! जब से मैंने लघुभ्राता की पत्नी उस वसुंधरी को देखा है तभी से मुझे कामज्वर ने घेर लिया है। अब उस अंगना का स्पर्श कराकर तुम मुझे शीघ्र ही स्वस्थ करो।

इतना सुनते ही कलहंस ने दोनों हाथों से शीघ्र ही अपने दोनों कान बंद कर लिये और पुनः कुछ क्षण ठहर कर बोला–

'कमठ! तुमने यह क्या अतिसाहस का विचार किया है? क्या यह संभव है? क्या राजा अरविन्द जैसे न्यायप्रिय और लोकप्रिय राजा के रहते हुए तुम इस अनर्थ में जीवित रह सकते हो? क्या वह पुत्री सदृश वसुंधरी तुम्हारे भोगने योग्य है? और फिर जबकि वह तुम्हारे छोटे भाई की भोगी हुई होने से जूठन सदृश है। मित्र! छोड़ो-छोड़ो, इस दुराग्रहरूप पिशाच का पल्ला छोड़ो और अपने स्वभाव में आओ। देखो! क्या हमारी भावज 'वरुणा' सौन्दर्य में वसुंधरी से कम है। यदि वे इस बात को सुनेंगी कि मेरे पतिदेव मेरी देवरानी पर आसक्त हैं तो वे क्या सोचेंगी? और अकस्मात् इस चरित्रहीनता से आपकी कितनी हानि होगी? क्या गति होगी? क्या आपने इस पर भी विचार किया है? यदि नहीं किया है तो अब शीघ्र ही विचार करो।'

कमठ मित्र कलहंस की शिक्षास्पद बातें सुनकर क्रोध से भभक उठा, उसका चेहरा तमतमा उठा। वह आवेश में आकर बोला–'मित्र! बस-बस रहने दो, बस तुम्हारी शिक्षाओं

को रहने दो, मैं तुमसे अधिक शिक्षाओं को जानता हूँ किन्तु मैं राजा हूँ यह वसुंधरी ही क्या, इस पोदनपुर में जो-जो सुंदर वस्तु होगी उसे भी क्षणमात्र में हस्तगत कर सकता हूँ। मनुष्य को कभी भी मिले हुए अवसर को नहीं चूकना चाहिए। अभी राजा अरविन्द और भाई मरुभूति तो अन्यत्र गये हुए हैं सारी राज्यसत्ता तो मेरे ही हाथ में है। बस शीघ्र करो यदि तुम मेरे सच्चे-अभिन्न मित्र हो तो सत्त्वर ही उस सुंदरी से मेरा समागम करा दो।

कलहंस अंतःकरण में कुछ अलग ही सोच रहा था किन्तु मित्र के इस दुराग्रह को पूर्ण करने के लिए तत्क्षण ही कुछ कूट उपाय सोचने लगा। कुछ क्षण बाद बोला–

'मित्र कमठ! मैं तुम्हारा कार्य बहुत शीघ्र ही सिद्ध किये देता हूँ। तुम चिंता छोड़ो और भोजन करो।'

(3)

पोदनपुर के बाहर उद्यान में लताकुंज में वसुंधरी प्रवेश करती है। कमठ गुलाब के पुष्पों की शय्या पर लेटा हुआ है। उसे देखते ही हर्षित मन होता हुआ बोल उठता है–

'आओ, आओ प्रिय-वल्लभे आओ!! तुम्हारी विरहाग्नि से झुलसे हुए इस शरीर को और मन को शीघ्र ही अधरामृत से सिंचत करो, शांत करो।'

बेचारी वसुंधरी अकस्मात् इस वातावरण को देखकर घबरा गई और काँपने लगी। प्रभो! इस दुष्ट कलहंस ने मुझे कैसे फँसाया, मेरे साथ क्या छल रचा? हाय! हाय!! अब मैं

क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे मेरी रक्षा होगी? वह सोच ही रही थी उसे भागने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था। बाहर से किवाड़ बंद कर दिये गये थे। कमठ शीघ्र ही उठकर दोनों हाथों से उठाकर उसे अपनी पुष्प शय्या पर बिठा लेता है, तब वह साहस बटोर कर बोलती है–

'तात! आप मेरे पतिदेव के बड़े भ्राता होने से मेरे पूज्य पिता तुल्य हैं। आपको यह नीच कृत्य करना शोभा नहीं देता है। अरे! सर्वत्र शहर में आपकी दुष्टता का डंका बज रहा है।

फिर उसमें आप और एक कलंकी बनने का साहस कर रहे हैं। मैं इस समय आपसे अपने सतीत्व की, शील की भिक्षा माँगती हूँ।'

'प्राणप्रिये! देखो तो सही, तुम्हारे बिना मेरा रोम-रोम व्यथित हो रहा है। धर्मचर्चा का यह समय नहीं है।

...कुछ ही क्षण के अनंतर वसुंधरी ने अपने अमूल्य शीलरत्न को खो दिया और वह मात्र रंकिनी, पापिनी, दुर्गतिगामिनी, कुलटा इस नाम को अपने नाम के साथ लगाकर कुल कलंकिनी कुलध्वंसिनी हो गई।

प्रणय बंधन में दोनों कुल कलंकियों के दिन गुजर रहे हैं। महाराज अरविन्द वज्रवीर्य को जीतकर वापस आ रहे हैं। वे आज बहुत ही प्रसन्न हैं क्योंकि एक क्षुद्र राजा वज्रवीर्य को अपनी आज्ञा में रखकर उसके द्वारा वज्र, हीरा, मोती, माणिक्य आदि भेंट में लेकर विजयपताका को लहराते हुए और विजय के नगाड़ों से दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए वापस पधार रहे हैं। सवत्र शहर में केला और कदली के पत्तों

के द्वार बनाये गये हैं। जगह-जगह तोरण-वंदनवार लटक रहे हैं जिनमें मुक्ता और मूँगे लगे हुए अपनी श्वेत और रक्त आभा बिखेर रहे हैं। तोरण द्वारों में फूल मालायें लटकती हुई राजा के विजय कीर्ति की सुरभि को द्विगुणित कर रही हैं। शहर की गली में चंदन के छींटे दिये गये हैं। पुष्प बिखेरे गये हैं। महाराज के स्वागत की जोरदार तैयारियाँ हो रही हैं।

दूसरे दिन राजसभा में महाराज ने मरुभूति से पूछा- 'मंत्रिवर! क्या बात सही है जो गुप्तचरों और विश्वस्त जनों द्वारा हमें मिली है? 'मंत्री निरुत्तर किन्तु माथा नीचे किये चुपचाप खड़े रहे। पुनः राजा पूछते हैं–''तो फिर बताओ उस दुष्ट कमठ को क्या दंड देना चाहिए?''

'महाराज! एक बार आप उसे क्षमा प्रदान करें मेरी यही आपसे विनती है।'

'क्षमा, क्षमा!! अशक्य है, असंभव है। मंत्री जी! व्यभिचार जैसे पाप में भाई, बंधु और पुत्र का मोह न्यायसंगत नहीं है। न्यायप्रिय राजा अन्याय में अपने पुत्र को भी प्राणदंड देने से नहीं चूकते हैं और तभी वे यशस्वी होते हैं।

अनंतर राजा की आज्ञा से कोतवाल ने कमठ का सिर मुँडवाकर मुख पर काला पोत दिया और गधे पर बिठाकर सारे शहर में घुमाया। उसके आगे-आगे ढोल बजाया जा रहा था कि 'ऐसा दुष्कर्म जो भी करेगा उसको ऐसा ही दण्ड दिया जावेगा।' कमठ के इस अपमान को देख-देखकर कुछ लोग हँस रहे थे, कुछ लोग निंदा कर रहे थे और बच्चे पीछे-पीछे दोड़कर कंकड़ मार रहे थे। कोतवाल ने इस विधि से उसे अपमानित करके देश से निकाल दिया। सो ठीक ही है

क्योंकि अतितीव्र पाप तत्काल ही उदय में आ जाया करते हैं और तभी तो लोग पाप से डरते हैं अन्यथा क्यों डरें! इस प्रकार फूले हुए पापतरु को सभी संसार ने देखा, आगे इसमें नरक फल लगेगा। अतः दुर्व्यसनों को पुनः पुनः धिक्कार है।

महादण्ड को भोगकर कमठ का मुखकमल अपमान की अग्नि में झुलस गया था। वह भूताचल पर्वत पर तापसियों के आश्रम में पहुँचा। वहाँ पर सभी तापसी समीचीन ज्ञान के बिना मात्र अपने शरीर का शोषण कर रहे हैं। कोई वृक्ष में लटक कर अधोमुख झूलते हुए नीचे जलती अग्नि का धूम्रपान कर रहे हैं, कोई पंचाग्नि तप कर रहे हैं। (चारों तरफ अग्नि जलाकर और वृक्ष में छींके पर बैठ जाना तथा नीचे भी अग्नि जला लेना यह पंचाग्नि तप है।) कोई मौन बैठे हैं। कोई शरीर में भस्म रमा रहे हैं। कोई मृगछाला को तन में लपेटे हुए हैं, कोई नख को बढ़ाये हुए हैं, और कोई जटाओं के भार से सिर को बोझिल बनाये हुए हैं। ये साधु स्व-पर दया से शून्य हैं। अहिंसा के मर्म को नहीं समझ सके हैं। उन्हें नमस्कार कर प्रमुख गुरु के पादमूल में पहुँचकर कमठ ने भी दीक्षा ले ली और हाथ में पत्थर की शिला लेकर खड़ा होकर तपश्चरण करने लगा। उस समय ऐसा लगता है कि मानों वैराग्य और विवेक से शून्य क्रुधित हुए सर्प ने ही अपना फण ऊँचा उठा रखा है।

(4)

मरुभूति भाई से मिलने की उत्कंठा से और क्षमा कराकर वापस घर लिवा लाने की भावना से जल्दी-जल्दी कदम

बढ़ाते हुए जा रहा है। दूर से तापसियों के बीच प्यारे भाई को देखकर पहचान कर तथा ऐसी रुक्ष और विवर्ण दशा को देखकर दुःखी हुआ मरुभूति कमठ के निकट पहुँचा। हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा–

'हे भाई! तुम्हारा हृदय विशाल है। जो कुछ हुआ, वह सब अपराध क्षमा करो और घर चलो। हे बंधु! तुम्हारे बिना मुझे घर में अच्छा नहीं लगता है। इतना बोलते हुए वह सरल मन से मरुभूति कमठ के पैरों में गिरकर नमस्कार करने लगा। बस उसी समय कमठ के मन में अत्यंत क्रोध उत्पन्न हुआ। अरे यह दुष्टात्मा पहले तो मुझे खूब ही अपमानित करा चुका है और अब बातें बना कर सफाई करने आया है। क्रोध में अंधे हुए उस कमठ तापसी ने तत्क्षण ही अपने हाथ की शिला को उस छोटे भाई के सिर पर पटक दिया। सहोदर के सिर पर उस वज्रसदृश शिला के पड़ते ही खून के फव्वारे निकल पड़े। निकट ही में तपस्या में रत हुए साधुओं से यह कुकृत्य न देखा गया। वे लोग उठ पड़े और हा-हाकार करने लगे। प्रमुख तापसी गुरु ने आकर इस निंद्य कृत्य को देखते हुए उस कमठ की बार-बार निंदा की और तर्जना करते हुए उसे तत्क्षण ही आश्रम से बाहर निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर यह दुष्ट पापी वन में पहुँचा और भीलों में मिल गया, उनके साथ चोरी, डकैती करने लगा। एक बार कोतवाल ने इन भीलों को चोरी करते पकड़ लिया और बुरी तरह बाँधकर इन पर मार पड़ी। सो ठीक ही है जो

जैसा करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। क्या कभी इंद्रायन की बेल में आम्र फल लग सकते हैं? अर्थात् नहीं लग सकते हैं। देखो! तप्त हुए तवे पर यदि स्वाति जल की बूँद गिर जाती है तो वह विनष्ट हो जाती है, वही बूँद यदि कमलदल का सत्संग करती है तो मोती के समान दिखने लगती है। वही बूँद यदि सागर के सीप में जाती है तो मुक्ताफल हो जाती है। ऐसा संगति का प्रभाव प्रत्यक्ष में सभी को दिख रहा है। इसी प्रकार से नीच की संगति से नीच फल मिलता है, मध्यम की संगति से मध्यम फल होता है और उत्तम के संसर्ग से सदैव उत्तम फल प्राप्त होता है।

(5)

अतिसघन सल्लकी नामक वन में विशाल मुनिसंघ ठहरा हुआ है। कहीं ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के नीचे कुछ मुनि मिलकर स्वाध्याय कर रहे हैं। कहीं सिकतास्थल की शुद्ध-भूमि में कोई-कोई मुनि अपनी शुद्धात्मा के ध्यान में निमग्न होकर परमसमरस का पान कर रहे हैं। कहीं कुछ मुनि जिनेन्द्रदेव की आराधना में तत्पर हो स्तुति से दिशाओं को मुखरित कर रहे हैं वहीं पर मर्कट अपनी चंचलता को प्रगट करते हुए वृक्षों की डाल से झूलते हुए स्तुति को श्रवण कर रहे हैं। कहीं सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तु विचरण कर रहे हैं। कहीं श्रावक, श्राविकायें भोजन बनाने की व्यवस्था में व्यस्त हैं, तो कहीं श्रावक भगवान की पूजा में संलग्न हो रहे हैं। संघ शिरोमणि आचार्य श्री अरविन्द मुनिराज एक शुद्ध पाषाण शिला के ऊपर

प्रतिमा योग से विराजे हुए निजात्मा का चिंतन कर रहे हैं।

उसी समय एक वज्रघोष नाम का विशालकाय हाथी उस विशाल संघ में क्षोभ उत्पन्न करता हुआ विचरण करने लगा। सकल संघ में खलबली मच गई। वह काल के समान विकराल हाथी इधर-उधर दौड़ रहा है। उसके धक्के से जो मनुष्य गिरा सो उसी के पैर के नीचे दबकर परलोक सिधार गया, उस क्रूर हाथी ने कितने ही घोड़ों को मार गिराया, कितने ही गाय-बैलों को मृत्यु के घाट उतार दिया, कितने ही ऊँटों को गिरा दिया जो कि बेचारे पुनः नहीं उठ सके। पाकशाला में व्यस्त हुई महिलाओं को त्रस्त कर दिया। सभी श्रावक चिंतित होकर इधर-उधर भागे और मुनि संघ पर आये हुए उपसर्ग का कैसे निवारण हो, ऐसा उपाय सोचने लगे। वह मत्त हुआ हाथी अपने कपोलों से मदजल को बरसाता हुआ मुनिराज अरविन्द के सन्मुख आ गया। सर्वत्र हा-हाकार मच गया।सूरिवर्य गुरुदेव सुमेरु पर्वत के समान अचल स्थित थे, उनके वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिंह था। उसको देखते ही उस गजराज को जातिस्मरण हो गया। यह क्या? वह क्रूर हाथी तो एकदम शांत हो गया और मुनिराज के चरणों में मस्तक टेक दिया। अब मुनिराज कहते हैं–

'हे गजराज! तुमने यह क्या किया? अरे, यह हिंसा कर्म महान् दुःखमय ऐसी दुर्गति को देने वाला है। हिंसा के पाप से ही ये जीव संसार रूपी भयंकर वन में भटकते रहते हैं। यह हिंसा स्व और पर दोनों को ही दुखदायी है। अहो!!

तुमने ब्राह्मण के पुत्र मरुभूति मंत्री की पर्याय में मरकर यह तिर्यंच योनि पाई है। अरे, यह आर्तध्यान का, भाई के प्रति ममत्त्व परिणाम का फल है। मैं अरविन्द राजा तुम्हारा स्वामी था। मैंने तुम्हें बार-बार मना किया कि तुम उस दुष्ट कमठ से मिलने मत जावो क्योंकि दुर्जन और श्लेष्मा ये दोनों जगत् में समान ही होते हैं। जैसे-जैसे इन्हें मधुरता दी जाती है वैसे-वैसे ही ये दोनों अधिक कुपित होते जाते हैं। उस दुष्ट तापसी ने तुम्हारे सिर पर शिला पटक दी। तुम भाई के मोहरूपी आर्त परिणाम से मरकर इस गजयोनि में आ गये हो और उस कमठ की भार्या वरुणा भी कालांतर में मरकर तुम्हारी हथिनी हुई जिस भावज को तुमने माता के समान समझा था आज तुम उसी के साथ रमण करते हुए सुखी हो रहे हो। अरे, करिपति! देखो, देखो संसार की विचित्रता को तो देखो।'

उस समय हाथी के नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगी सो ऐसा मालूम होता है कि अंतरंग से मिथ्यात्व और दुर्ध्यान ही अश्रुजल के बहाने निकला जा रहा है और तभी तो उसमें सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा धर्मध्यान को ठहरने की जगह मिल सकेगी। मुनिराज और भी कह रहे हैं–

'हे गजेन्द्र! मैंने तुम्हारे वियोग से दुःखी हो अवधिज्ञानी महामुनि से पूछा था कि मेरा प्रिय मंत्री मरुभूति अभी तक क्यों नहीं आया? तब उन्होंने सारी घटना सुनाई थी।

पुनः एक दिन मैं अपने प्रासाद की उपरिम छत पर बैठा

हुआ प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन कर रहा था कि अकस्मात् आकाश में मेघ पटल से निर्मित एक सुंदर मंदिर दिखाई दिया जिसका शिखर अतिशय उन्नत और रमणीक था। देखते ही मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ऐसा सुंदर जिनमंदिर बनवाना चाहिए। बस मैंने हाथ में कागज और कलम उठाई उसका चित्र खींचने के लिए, कि ऊपर दृष्टि डालते ही वह सुंदर भवन विघटित हो गया। बस तत्क्षण ही मुझे संसार की स्थिति का सच्चा ज्ञान हो गया। यह विशाल राज वैभव इसी मेघ पटल के बने सुंदर भवन के समान अस्थिर है। यह यौवन भी बिजली के समान चंचल है, फिर भी मोही प्राणी इन्हें स्थिर मान कर इन्हीं में रच-पच रहा है। उस समय मैंने प्रबुद्ध होकर सभी राज्य भार अपने सुपुत्र को सौंपकर निर्ग्रंथ गुरु के सान्निध्य में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इस समय मैं चतुर्विध संघ सहित सम्मेदशिखर महातीर्थ की वंदना के लिए जा रहा हूँ। सम्मेद शिखर तीर्थ की एक बार भी वंदना करने वाले जीव, भव्य ही होते हैं यह नियम है, उस तीर्थराज की वंदना करने से नरक और तिर्यंच गति टल जाती है। यहाँ तक कि भव्य जीव 46 भव के भीतर ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इससे अधिक भव धारण नहीं कर सकते हैं।

गजराज! अब तुम मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करो और पाँचों पापों को छोड़ो। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महल में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है, अनंतसुख का मूल है अथवा अनंतगुणरूपी कल्पवृक्ष का बीज है। अष्टादश दोष रहित

जिनदेव ही सच्चे देव हैं, दयामयी धर्म ही सच्चा धर्म है और निर्ग्रंथ दिगम्बर गुरु ही सच्चे गुरु हैं। बस इन्हीं का दृढ़ श्रद्धान करना इनके सिवाय रागद्वेषादि मैल से मलिन ऐसे देव को, दया रहित धर्म को और पाखंडी साधुओं को नहीं मानना ही सम्यग्दर्शन है। शंकादि पच्चीस मल दोष रहित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष के लिए कार्यकारी है। निःशंकित आदि आठ अंग हैं। इनके बिना यह दर्शन संसार की बेल को उखाड़ने में समर्थ नहीं है। जैसे कि एक भी अक्षर से न्यून हुआ मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है।

पंच उदंबर फल (बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर) मद्य, माँस और मधु का त्याग करो। संकल्पी हिंसा का त्याग करो, असत्य भाषण, चोरी और कुशील का त्याग करो तथा परिग्रह तो तुम्हारे पास कुछ भी है ही नहीं, फिर भी हे गजराज! तुम अपनी आशाओं पर नियंत्रण करो, इच्छाओं का प्रमाण करो। इन पाँच पापों के एकदेश त्याग से पाँच अणुव्रत कहलाते हैं। इनकी रक्षा करने वाले सात शील हैं जो कि 3 गुणव्रत और 4 शिक्षा व्रत रूप हैं। उन्हें भी ग्रहण करो, तुम इन व्रतों के प्रभाव से, नियम से देवगति को प्राप्त करोगे क्योंकि यह नियम है–

अणुवद महव्वदाईं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।

देवायु के सिवा अन्य आयु के बँध जाने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रत को ग्रहण नहीं कर सकता है।

अर्थात् जो अणुव्रती या महाव्रती है वह नियम से

देवगति में ही जावेगा अन्यत्र गति में जा नहीं सकता अथवा कदाचित् महाव्रती महामुनि है तो मोक्ष भी जा सकता है।'

इस प्रकार से गुरुदेव ने विस्तार के साथ सम्यक्त्व और व्रतों का उपदेश दिया। तब हाथी उन व्रतों को ग्रहण करके अपने हर्ष को व्यक्त करते हुए बार-बार गुरुदेव को नमस्कार करने लगा। बार-बार पृथ्वी तल पर मस्तक टेक-टेक कर अपनी श्रद्धा भक्ति प्रकट करने लगा।

यह गजराज श्रावक हो गया है ऐसा जानकर श्रावकों ने उसे मिष्ठान्न आदि खिलाकर प्रासुक जल पीने को दिया। वहाँ से जब संघ का विहार हुआ तब हाथी भी कुछ दूर तक संघ के साथ जाकर गुरुदेव को पहुँचा कर आया और गुरु के पाद कमल का स्मरण करते हुए वहीं सल्लकी वन में रहने लगा।

(6)

अब हाथी संयमासंयम को साध रहा है। वह सम्यग्दृष्टि है। वह भूलकर भी त्रस जीव की विराधना नहीं करता है, सभी प्राणियों पर समभाव धारण किये हुए है, जो कोई क्षुद्र जंतु उसे सताते हैं, उनके प्रति पूर्ण क्षमा धारण करता है। अपने शरीर को कृश करते हुए इंद्रियों का दमन कर रहा है, साहसपूर्वक प्रोषध व्रत पालन करता है। सूखे तृण पत्तों का भक्षण करता है। दूसरे पशु जिस मार्ग से चल चुके हैं ऐसे मर्दित हुए प्रासुक मार्ग से गमन करता है जिस तालाब में अन्य हाथी आदि पानी को विलोडित कर देते हैं उस प्रासुक हुए पानी को पीता है। बिना देखे पृथ्वी पर पैर नहीं रखता है

और अपने तन पर पानी, कीचड़ आदि नहीं डालता है। अपने शील व्रत को पालन करने में कुशल वह हाथी हथिनी के पास भी नहीं जाता है। वह उस निर्जन वन में अन्य जंतुओं द्वारा किये गये उपसर्गों को सहन करने में समर्थ होता हुआ अपने मन में किंचित् भी दुर्ध्यान को नहीं लाता है। पाप के भय से अपने शरीर को काष्ठ के समान निश्चल रखता है, बार-बार, इधर-उधर सूँड-पूँछ आदि हिलाता-डुलाता नहीं है। इस प्रकार बहुत काल तक दुर्द्धर तप करते हुए उसकी शक्ति क्षीण हो गई फिर भी वह पंच परमेष्ठी के चिंतवन में अपने मन को क्षीण नहीं करता है।

एक दिवस वह करीन्द्र अधिक प्यासा हुआ वेगवती नदी के तट पर आया और सूँड से फूँक करके जल को प्रासुक किया, पुनः जल पीने लगा किन्तु उस नदी के किनारों पर कीचड़ अधिक था, उस कीचड़ में हाथी का पैर फँस गया। अब उसका उसमें से निकलना कठिन था। सच ही है जब कुंजर ही कीच में फँस जाये तब उसे निकालने वाला कौन हो सकता है? उस समय वह गजपति श्रावक मन में सोचने लगा–'अब मुझे इस अथाह कीच से कोई निकालने वाला नहीं है जैसे कि मोहरूपी कीच में फँसे हुए संसारी जीव को संसाररूपी अथाह समुद्र से निकालने वाला कोई नहीं है। हाँ, यदि मैं सल्लेखनारूपी बन्धु का सहारा ले लूँ तो वह मुझे अवश्य ही यहाँ से निकाल कर उत्तम देवगति में पहुँचा सकता है।'

ऐसा निश्चय कर गजराज ने चतुराहार का जीवन भर के लिए त्याग करके महामंत्र का स्मरण करते हुए पंच परमेष्ठी का ही अवलम्बन ले लिया। कुछ की काल बीता था एक कुक्कुट जाति का साँप वहाँ आ गया। उसने पूर्व जन्म के संस्कारवश उस हाथी को डस लिया। वह उस वेदना से व्याकुल होने लगा किन्तु गुरु द्वारा प्राप्त हुए उपदेश से आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। ऐसा वाक्य मंत्र स्मरण करते हुए वह शरीर से पृथक् अपनी आत्मा को ज्ञान पुंज, शुद्ध समझने लगा तथा पंचपरमेष्ठी के पाद कमलों के ध्यान से अपने परिणामों को स्थिर करके धर्मध्यानपूर्वक इस नश्वर देह से निकलकर (मरकर) बारहवें स्वर्ग में स्वयंप्रभ विमान में उपपाद शय्या से उत्पन्न होकर 'शशिप्रभ' नाम का देव हो गया।

(7)

स्वर्गपुरी का स्थान है–

वह देव सोलह वर्ष के राजकुमार के समान ही अपनी शय्या से उठ खड़ा हुआ। तमाम देवगण और देवांगनाएँ सम्मुख व इर्द-गिर्द खड़े हुए हैं वे सब मधुर मुस्कान को लिए हुए हैं। सामने के कल्पवृक्षों से खिले हुए सुमन समर्पित हो रहे हैं। मानों वे नूतन देवराज के स्वागत के लिए ही पुष्पांजलि बिखेर रहे हैं। वहाँ की सौरभ व सुषमा देखकर वह देव एक क्षण के लिए आश्चर्यान्वित हो जाता है पुनः उसे तत्क्षण ही अवधिज्ञानरूपी तीसरा नेत्र प्रगट हो जाता है जिससे उसे

स्पष्ट झलक जाता है कि ...

"मैं हस्तीचर हूँ, ओहो!! यह स्वर्गपुरी है और यह अतुल वैभव, ये देवांगनाएँ, ये परिवार देव, यह सब पुण्य का प्रसाद है। मैंने गुरुदेव के द्वारा जो सम्यक्त्वरूपी रत्न और अणुव्रतरूपी निधि प्राप्त की थी उसी के फलस्वरूप यह तेजोधाम प्राप्त हुआ है।"

तब तक सभी देव, देवीगण अभिवादन करते हुए बोले– "हे स्वामिन्! आप जिनशासन के प्रभाव से इस उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त हुए हैं। अब उठिये और मंगल स्नान कीजिऐ। पुनः वस्त्रालंकार से भूषित होकर जिनेन्द्र भवन में जिन प्रतिमाओं की पूजन कीजिए। अनंतर अपने वैभव का निरीक्षण कीजिए और उत्तम-उत्तम भोगों का अनुभव कीजिए।"

शशिप्रभदेव ने भी अपनी प्रसन्नता से सबको प्रसन्न करते हुए यथोचित क्रिया करके पहले जिनपूजा की। उसकी सोलह सागर की आयु है, साढ़े तीन हाथ का शरीर है जो कि वैक्रियक होने से अतिशय सुंदर है सोलह हजार वर्ष के व्यतीत होने पर भोजन की इच्छा होती है और उसी समय कंठ से अमृत झर जाता है जिससे उसकी तृप्ति हो जाती है यह अनुपम मानसिक आहार है, सोलह पक्ष (8 महीना) बीतने के बाद वह देव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है। चतुर्थ-नरक पर्यंत उसका अवधिज्ञान जान रहा है और अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियाँ उसके पास विद्यमान हैं।

अहो! इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जो कि जंगली

पशु गजराज आज स्वर्ग के वैभव का स्वामी बन गया है। यह सब केवल तपरूपी कल्पवृक्ष का ही सुफल फलित हुआ है।

कभी वह देव सुदर्शन मेरु पर जाकर सोलह चैत्यालयों की वंदना करता है, कभी वह नंदीश्वर द्वीप में बावन चैत्यालयों में पूजा करता है, कभी तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के अवसरों पर भक्तिभाव से भाग लेता है, कभी चारणऋद्धिधारी मुनियों की वंदना करके उनसे उपदेश सुनता है, कभी अपने सच्चे गुरु अरविन्द मुनिराज की पूजा करता है। कभी यहाँ पर आकर सम्मेदशिखर पर्वत की वंदना करके असीम पुण्य संचित कर लेता है।

कभी अपनी देवांगनाओं के साथ क्रीड़ा भवन में क्रीड़ा करता है, कभी नंदन वनों में विचरण करते हुए अपूर्व पुण्य के फल का उपभोग करता है। सुंदर-सुंदर गीतों से, नाना प्रकार के वादित्रों से, अनेक रस, हास्यमय अलंकारों से वे देवियाँ भी शशिप्रभ का मनोरंजन किया करती हैं।

.....हाँ, सुनो तो वह कुक्कुट सर्प भी आखिर कहाँ है? किस स्थिति में है?

क्या पाप का, हिंसा का अथवा बैर का फल कभी किसी को मधुर मिला है? यदि नहीं, तो वह बेचारा कमठचर सर्प भी आखिर उस पाप के कटुक फल से कैसे बच सकेगा?

हाँ तो वह सर्प अपनी आयु पूर्ण करके रौद्रध्यानरूप अशुभ परिणामों से मरा और पाँचवें नरक में जा गिरा। वहाँ अधोमुख गिरते ही उछला और फिर गिरा.....वहाँ की पृथ्वी

का स्पर्श भी इतना भयंकर है कि मानों हजारों बिच्छुओं ने एक साथ ही डंक मार दिया हो। वहाँ की दुर्गन्धित मिट्टी यदि यहाँ आ जाये तो कई कोसों तक जीव मर जावें, वहाँ के दुःखों का वर्णन यदि करोड़ों जिह्वा बनाकर भी सरस्वती देवी करने लगे तो भी वह असमर्थ हो जावेगी। वहाँ पर इस नारकी ने जीव हिंसा आदि पाप कर्म के निमित्त जन्म लिया है। इसलिए इसे उसका फल तो भोगना ही है अतः वहाँ इसकी आयु भी सत्रह सागर प्रमाण है।

बहुत कुछ समय निकल जाने के बाद विद्युत्गति विद्याधर राजा की रानी विद्युन्माली की गोद में पुण्यशाली शिशु किलकारियाँ भर रहा है। माता अपने पुण्य के फलस्वरूप पुत्र को गोद में लेकर फूली नहीं समाती है।

राजसभा में विद्याधर सभासद बालक को हाथों-हाथ ले लेते हैं और विजयार्ध पर्वत के भावी महाराज को अपने अंक में लेकर विभोर हो उठते हैं।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश प्रसिद्ध है उसमें चक्रवर्ती के अर्धविजय को सूचित करने वाले रजतमय पर्वत विजयार्ध पर एक लोकोत्तम नाम का नगर है। उस नगर का भावी पालक यह शिशु अग्निवेग इस नाम को सुशोभित कर रहा है।

यह बालक अतिशय पुण्यशाली क्यों नहीं होगा, क्योंकि यह बारहवें स्वर्ग के शशिप्रभ देव की पर्याय से च्युत होकर यहाँ जन्मा है। इसीलिये तो यह अतुल वैभव का स्वामी है।

सौम्य प्रकृति का धारक यह शिशु दूज के चंद्रमा के समान वृद्धिंगत होता हुआ सभी नगर के मन और नेत्रों को हरण कर रहा है। फिर भी यह जिनदेव के चरण कमल का भ्रमर है, नित्य ही जिन भक्ति में अपने को समर्पित कर चुका है। राज्य संपदा को भोगते हुए सहसा भरी जवानी में ही एक दिन समाधिगुप्त मुनिराज के समीप धर्मश्रवण कर पंचेन्द्रिय विषयों को विषवत् समझकर तत्क्षण ही तृणवत् उनका त्याग कर दिया और पंचमहाव्रतों को प्राप्त कर अपने आपमें कृतकृत्यता का अनुभव करने लगा।

अब वे अग्निवेग महामुनि घोर-घोर तपश्चरण करने लगे। सर्वतोभद्र आदि श्रेष्ठ उपवासों के द्वारा शरीर को क्षीण करते हुए भी वे गात्रमात्र परिग्रहधारी निर्ग्रंथ साधु निजात्मा के अनुभवरूप परमानंदामृत को पीकर तृप्त हो रहे थे। वे अनंतगुणों के पुंजस्वरूप केवलज्ञानमयी अपनी शुद्धात्मा का ध्यान किया करते थे।

और वे एक दिन हिमगिरि पर्वत की गुफा में योग में लीन थे। वहाँ एक अजगर सर्प आता है मुनि को देखते ही वह क्रोध से भयंकर होकर उन्हें निगल लेता है।

मुनिराज परम समता भाव से इस शरीर से छूटकर सोलहवें स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव हो जाते हैं। वहाँ पर देव-देवांगनाओं के द्वारा सेवित असीम वैभव को प्राप्त कर लेते हैं।

वहाँ पर स्वर्ग में कहीं तो नंदन वन अपने सुगंधित कल्पवृक्षों के फूलों से दिशाओं को सुरभित कर रहे हैं, कहीं

पर छोटी-छोटी बावड़ियाँ हंस और मयूर जैसे जलयंत्रों से जलकेलि के समय चारों तरफ उज्ज्वल जल की बूँदें बरसाती हैं, कहीं पर चित्रशाला में नाना प्रकार के चित्र अचेतन होकर भी सचेतन देवों को अपने वश में कर लेते हैं इत्यादि सुषमा के साथ-साथ विक्रिया के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए देव-देवीगण भी अपने-अपने स्वामी का मनोरंजन किया करते हैं। वहाँ पर उस अच्युत देव की आयु बाईस सागर प्रमाण है। इतने हजार वर्ष व्यतीत होने पर ही उन्हें मानसिक आहार होता है तथा इतने ही पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है। तीन हाथ का ऊँचा सुंदर, सात प्रकार की धातु और उपधातु से रहित दिव्य वैक्रियक शरीर है। यह सब पुण्य का ही वैभव है।

इधर वह अजगर सर्प मुनि हत्या के घोर पाप से, और भी जीव हिंसा आदि क्रूर परिणामों से आयु व्यतीत कर मरा और सीधे छठे नरक में उत्पन्न हुआ और वहाँ बाईस सागर की आयुपर्यंत अनंत दुःखों को भोगता रहा।

अहो!! एक भाई सरल और धर्म के परिणाम से स्वर्ग के व विद्याधर के सुखों को पुनरपि स्वर्ग के सुखों को भोग रहा है। एक बेचारा कुटिल तथा कुत्सित पाप परिणामों से नरक के और तिर्यंच के, पुनरपि नरक के अनंत दुःखों का अनुभव कर रहा है क्योंकि पुण्य और पाप के संस्कार अथवा वैर के संस्कार कितने ही जन्म तक चलते चले जाते हैं।

(8)

पट्टरानी विजया का राजमहल है–

उषाकाल की लालिमा पूर्व दिशा में खिलने वाली है। पता नहीं क्यों? नक्षत्र और तारागण यत्र-तत्र पलायमान होते चले जा रहे हैं। शायद मालूम होता है कि पक्षियों के कलकलरव भेरी नाद के द्वारा अपने स्वामी चंद्रमा के प्रतिपक्षी भास्कर के उदित होने की सूचना पाकर ही वे भय से विलीन हो रहे हैं क्योंकि जब स्वामी स्वयं ही भय से निस्तेज हो रहा है तब प्रजा का कहाँ ठिकाना रहेगा?

भवन के चारों तरफ रंग-बिरंगे रत्न जड़े हुए हैं जो कमरे के अंदर भी इंद्रधनुष की कल्पना प्रगट कर रहे हैं। सिराहने पलंग में लगी हुई पद्मराग मणि तो मध्यरात्रि में भी अपनी स्वर्णिम आभा से सूर्य के प्रकाश को फैला रही थी। पुनः अब मानों सूर्यदेव के प्रभाव को न फैलने देने के कारण ही अपनी किरणों का तेज बिखेर रही है।

सखियाँ प्रभाती गा रही हैं, वीणा की मधुर ध्वनि के साथ-साथ ही मधुर वाणी से प्रभु का गुण स्तवन करते हुए रानी विजया देवी को निद्रा देवी की गोद से अलग करने का साहस कर रही हैं।.....

''श्रीमन्नतामरकिरीटमणि प्रभाभि–
रालीढ पादयुगदुर्द्धर कर्म दूर!
श्रीनाभिनंदनजिनाजितसंभवाख्य!
त्वद्ध्यान्तोऽस्तुसततंवसुप्रभातं।।''?

विजया देवी चंद्रमा की चाँदनी के समान धवल, अतिशय स्निग्ध, कोमल और स्फटिक मणि के समान स्वच्छ बारीक चादर को अपने ऊपर से हटाती हैं और महामंत्र का स्मरण करते हुए उठकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके कुछ क्षण ध्यान मुद्रा में बैठ जाती हैं। कायोत्सर्ग करके जिनदेव की स्तुति पढ़कर अपनी सखियों की तरफ प्रसन्न मुद्रा से अवलोकन करती हैं।.....

प्रभातकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर महारानी सखियों के साथ राजसभा में प्रवेश करके महाराज वज्रवीर्य नरेन्द्र का यथायोग्य अभिवादन करती हैं और महाराज के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर बैठ जाती हैं और निवेदन करती हैं.....।

''देव! आज रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने कुछ सुंदर स्वप्न देखे हैं। मेरी आन्तरिक प्रसन्नता का यही कारण है, मुझे कौतुक हो रहा है कि इन उत्तम स्वप्नों का क्या फल है? हे आर्य! कृपा कर अपने मुख चंद्र की वचन किरणों से उनका फल स्पष्ट बताकर मेरे हर्ष समुद्र को वृद्धिंगत कीजिये।''

''कहिये देवी! उन स्वप्नों को कहिये?''

''पहले सुदर्शन मेरु को देखा है, पुनः सूर्य देखा है, पुनः चंद्रमा देखा है अनंतर देवविमान देखा और बाद में बहुत ही विशाल सुंदर जल से परिपूर्ण भरित सरोवर देखा है, ऐसे ये पाँच स्वप्न देखे हैं।''

राजा ने कुछ क्षण मन में सोचा। अनंतर अपने दाँतों की किरणों से अमृत को झराते हुए ही हँसते हुए बोले–

"प्रिये! तुम अतिशय पुण्यशालिनी हो। ये स्वप्न यह बात स्पष्ट कह रहे हैं कि तुम चक्रवर्ती पुत्ररत्न को जन्म दोगी।"

इतना शब्द सुनते ही रानी का सारा शरीर रोमांच से पुलकित हो उठा। उन्हें ऐसा आभास हुआ कि मानों साक्षात् ऐसे पुत्र को प्राप्त ही कर लिया है।

नव महीने व्यतीत होने के बाद एक दिन सभा में एक दासी पहुँचकर पुत्र के जन्मोत्सव का उत्तम समाचार सुनाती है।

सभा में हर्ष की एक लहर दौड़ जाती है। महाराज उस सूचना देने वाली महिला को रत्नहार, वस्त्र, आभूषण, धन आदि देकर उसे सदा के लिए धनी और सुखी बना देते हैं।

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में पद्म देश है उसके अश्वपुर नगर में सर्वत्र हर्ष का ही वातावरण बन जाता है, शहर में चारों तरफ वंदनवार, तोरणद्वार बाँधे जा रहे हैं। सर्वत्र बाजे बज रहे हैं, खुशियाँ मनाई जा रही हैं। राजा ने उस समय इतना दान बाँटा कि सभी जन तृप्त हो गये, भंडार खुला है दातार खड़े हैं किन्तु अब कोई याचक आ ही नहीं रहा है। मालूम होता है कि चक्रवर्ती वज्रनाभि ने आते ही शहर की दरिद्रता को कूच करा दिया है। जिनमंदिरों में जिनेन्द्र देव की पूजा महोत्सव मनाया जा रहा है।

शिशु वज्रनाभि अच्युत स्वर्ग के वैभव को छोड़कर यहाँ आये हैं इसलिये लक्ष्मी को वियोग सहन नहीं होने से ही मानों वह यहाँ भी आकर उनके चरण कमलों में निवास

करने लगी है। चौंसठ लक्षणों से लक्षित स्वर्णाभ देह सब जन-मन को हरण कर रहा है।

.....युवावस्था में चक्ररत्न पैदा हुआ है, सुनकर वज्रनाभि नरेन्द्र ने विधिवत् जिनेन्द्रदेव की पूजा करके चक्ररत्न की पूजा की, पुनः दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया और कुछ काल में छहों खंड पृथ्वी को जीतकर पूर्व विजयश्री का वरण करके वापस नगरी में आ गये।

सम्राट चक्रवर्ती वज्रनाभि महाराज षट्खंड पृथ्वी पर एकछत्र शासन कर रहे हैं।

चक्रवर्ती का वैभव.....

ऐरावत हाथी के समान चौरासी लाख हाथी हैं, वायु के समान वेगशाली रत्नों से निर्मित चौरासी लाख रथ हैं, पृथ्वी की तरह आकाश में भी गमन करने वाले अठारह करोड़ उत्तम घोड़े हैं, योद्धाओं को मर्दन करने वाले ऐसे चौरासी करोड़ पदाति (पियादे) हैं। स्वयं चक्रवर्ती का शरीर वज्रमय (वज्रवृषभनाराच संहनन वाला) है, उनका संस्थान समचतुरस्र है, छह खंड के सभी राजाओं में जितना कुछ बल होता है उन सबसे अधिक बल उनके एक शरीर में है। उनके चक्ररत्न के प्रभाव से छह खंड के सभी राजा उनकी आज्ञा को सिर से धारण करते हैं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों में नत हैं।

छ्यानवे हजार रानियाँ हैं, जिनमें से बत्तीस हजार रानियाँ आर्यखंड की हैं, बत्तीस हजार रानियाँ विद्याधरों की

कन्यायें हैं और बत्तीस हजार रानियाँ म्लेच्छ खंड में जन्में राजाओं की हैं। ये सब अप्सराओं के समान सुंदर हैं। बत्तीस हजार नाटक (नाट्यशालायें) हैं। जिनमें हमेशा गीत, नृत्य, वाद्य आदि चलते रहते हैं। स्वर्गपुरी के समान बहत्तर हजार नगर हैं, नंदनवन जैसे बगीचों में शोभायमान छ्यानवें करोड़ गाँव हैं। निन्यानवे हजार द्रोणमुख हैं, जो कि समुद्र के समीपवर्ती प्रदेश हैं, वे धन-धान्य से अतिशय समृद्ध हैं। अड़तालीस हजार पत्तन हैं, वे रत्नों की खानि होने से रत्नाकर के समान हैं। सोलह हजार खेट हैं ये कोट, अटारी, खाई और परकोटाओं से शोभायमान हैं। समुद्र के बीच में होने वाले और कुभोगभूमिज मनुष्यों से भरे छप्पन अंतरद्वीप हैं। जिनके चारों ओर खाई है ऐसे चौदह हजार संवाह अर्थात् पर्वतों पर बसने वाले शहर हैं।

भोजनशाला में चावल पकाने के लिए एक करोड़ बड़े-बड़े हंडे हैं। जिनमें बीज बोने की नली लगी हुई है, ऐसे एक लाख करोड़ हल हैं। तीन करोड़ गौशालायें हैं। जहाँ रत्नों के व्यापार चलते हैं, ऐसे सात सौ कुक्षिवास हैं। अट्ठाईस हजार गहन वन हैं जो निर्जल देश और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के विभागों से बँटे हुए हैं। अठारह हजार आर्य खंड के म्लेच्छ राजा हैं।

नव निधियाँ हैं जिनके काल, महाकाल, नैसर्प, पांडुक पद्म, माणव, पिंगल, शंख और सर्वरत्न ये नाम हैं।

काल निधि से काव्य, कोश, अलंकार, व्याकरण आदि शास्त्र और वीणा, बांसुरी, नगाड़े आदि मिलते रहते हैं।

महाकाल निधि से असि,मसि, कृषि आदि छह कर्मों के साधन ऐसे समस्त पदार्थ और संपदाएँ निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं।

नैसर्प निधि शय्या, आसन, मकान आदि देती है। पांडु निधि समस्त धान्य और छहों रसों को उत्पन्न करती है। पद्मनिधि रेशमी, सूती आदि वस्त्र प्रदान करती है। शंखनिधि सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करने वाले सुवर्ण को देती है। सर्वरत्ननिधि महानील, इंद्रनील, पद्मराग, वैडूर्य, स्फटिक आदि अनेक प्रकार के रत्नों और मणियों को देती है।

इन नौ निधियों के सिवाय चौदह रत्न हैं। जिनमें सात सजीव और सात निर्जीव हैं। वे सब रत्न पृथ्वी की रक्षा और विशाल ऐश्वर्य और उपभोग के साधन हैं। चक्र, छत्र, दंड, खड्ग, मणि, चर्म और कांकिणी से सात निर्जीव रत्न हैं और सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, तक्ष (सिलावट) और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं।

सम्राट् चक्रवर्ती ने सुदर्शन नामक चक्ररत्न से छहों खंड को जीत लिया है। सूर्यप्रभ नाम का छत्र राजसभा में जगमग ज्योति फैलाता हुआ सूर्य की प्रभा को लज्जित कर देता है। दण्डरत्न से विजयार्ध पर्वत की गुफा का द्वार खुला है। सौनन्दक तलवार को देखकर बैरीजन कम्पित होकर चक्रवर्ती की शरण में आ गये हैं। मणिरत्न (चूड़ामणि) अंधकार को दूर कर देता है।

धर्मरत्न के मेघकृत जल के उपद्रव से सेना की रक्षा होती है–कांकिणी रत्न से गुफा में सूर्य-चंद्र का आकार

बनाकर प्रकाश फैलाया जाता है। सेनापति रत्न दिग्विजय में सभी योद्धाओं से अजेय रहता है। कामवृष्टि नामक गृहपति रत्न घर के सारे काम-काज संभाल लेता है। विजयगिरि नाम का ऐरावत सदृश उत्तम हाथी राजा का वाहन बनता है। पवनंजय नाम का घोड़ा स्थल के समान समुद्र में भी दौड़ लगाता है। सुभद्रा नाम की स्त्रीरत्न चक्रवर्ती के भोग सुख का साधन है जो कि अपने हाथ की शक्ति से वज्र को भी चूर कर सकती है। भद्रमुख नामक तक्षरत्न स्थान-स्थान पर सुंदर महलों का निर्माण करता है और बुद्धिसागर नाम का पुरोहित रत्न सभी निमित्तादि विद्या में प्रवीण रहता है। सभी धार्मिक कार्य उसी के अधीन रहते हैं।

चक्रवर्ती के रत्नों के साथ नवनिधि, पट्टरानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्या शाला, भाजन, भोजन और सवारी ये दस प्रकार के भोगोपभोग के साधन रहते हैं।

सोलह हजार गणबद्ध जाति के व्यंतर देव हाथ में तलवार लेकर निधिरत्न और चक्रवर्ती की रक्षा करने में नियुक्त रहते हैं।

चक्रवर्ती के महल को घेरकर क्षितिसार नाम का प्रसिद्ध कोट है। रत्नों के तोरणों से सुशोभित 'सर्वतोभद्र' नामक नगर का प्रमुख फाटक है। बड़े-बड़े डेरे खड़े करने के लिए नंद्यावर्त स्थान है। जिसमें सब ऋतुओं के सुख मिलें, ऐसा 'वैजयंत' नाम का महल है। दिक्स्वस्तिका नाम की सभाभूमि है। टहलते समय हाथ में लेने के लिए मणियों से निर्मित 'सुविधि' नाम की छड़ी है। सब दिशाओं के अवलोकन के

लिए सबसे ऊँचा 'गिरिकूटक' नाम का राजमहल है। 'वर्द्धमान' नाम की नृत्यशाला है जहाँ चक्रवर्ती नृत्य का अवलोकन करते हैं। 'धर्मांत' नाम का बड़ा भारी 'धारागृह' है (जिसमें सहस्रों जलयंत्र अर्थात् फव्वारे लगे हुए हैं) जो कि गर्मी के दिनों का निवास गृह है। वर्षा ऋतु के लिए 'गृहकूटक' नाम का राजभवन है। चूना से सफेद हुआ ऐसा 'पुष्करावर्ती' नाम का चाँदनी नाम का महल है। सम्राट के भंडार का नाम 'कुबेरकांत' है जो कभी खाली नहीं होता है। 'वसुधारक' नाम का अटूट कोठार है। 'जीमूत' नाम का सुंदर 'स्नानघर' है।

चक्रवर्ती वज्रनाभि के 'अवतंसिका' नाम की अत्यंत प्रकाशमान रत्नों की माला है। बहुत ही मनोहर कपड़े का बना हुआ ऐसा 'देवरम्य' नाम का तंबू है। जिसके पाये रत्नमयी हैं, सिंह के आकार के हैं, ऐसी 'सिंहवाहिनी' नाम की शय्या है। 'अनुत्तर' नाम का सबसे श्रेष्ठ सिंहासन है जो कि लोकोत्तर होने से अनुत्तर ऐसे अपने नाम को सार्थक कर रहा है। देवों द्वारा दिये गये 'अनुपमा' नाम के चामर बहुत ही सुंदर हैं कि जिनकी उपमा अन्य से नहीं दी जा सकती है। 'सूर्यप्रभ' नाम का सुंदर छत्र है। 'विद्युत्प्रभ' नाम के मणिकुंडल बिजली की कांति को भी जीतने वाले हैं। रत्नों की किरणों से व्याप्त 'विषमोचिका' नाम की खड़ाऊँ है जो कि चक्रवर्ती के सिवाय अन्य किसी के पैर का स्पर्श होते ही विष को छोड़ने लगती है। 'अभेद्य' नाम का कवच है जो कि महायुद्ध में शत्रुओं के तीक्ष्ण बाणों से भी टूट नहीं सकता। विजयलक्ष्मी

के भार को धारण करने वाला 'अजितंजय' नाम का रथ है। 'वज्रकांड' नाम का धनुष है और 'अमोघ' नाम के सफल बाण हैं। शत्रु को नाश करने वाली 'बज्रतुंडा' नाम की प्रचंड शक्ति है। 'सिंहाटक' नाम का भाला है जो सिंह के नखों से भी अधिक तीक्ष्ण है। 'लोहवाहिनी' नाम की छुरी है जिसकी मूठ रत्नों से निर्मित है। 'मनोवेग' नाम का कणव जाति का एक विशेष शस्त्र है। 'सौनंदक' नाम की तलवार है। 'भूतमुख' नाम का खेट जाति का हथियार है।

उस चक्रवर्ती के 'आनंदिनी' नाम की बारह भेरी हैं जो अपनी आवाज को बारह योजन तक फैलाकर बजा करती हैं। 'विजयघोष' नाम के बारह नगाड़े हैं जिनकी आवाज लोग आनंद के साथ सुना करते हैं। 'गंभीरावर्त' नाम के चौबीस शंख हैं जो समुद्र से उत्पन्न हुए हैं। उस सकल सम्राट के 'वीरांगद' नाम के रत्ननिर्मित कड़े हैं जो हाथ की कलाई को सुशोभित करते हैं। चक्रवर्ती के 'महाकल्याण' नाम का दिव्य भोजन है तथा अत्यंत रुचिकर स्वादिष्ट सुगंधित जिसको अन्य कोई नहीं पचा सकता है ऐसा 'अमृतगर्भ' नाम का 'खाद्य' पदार्थ है। जिसका स्वाद बहुत मनोहर है, मसाले वगैरह से जिनका संस्कार किया गया है।'अमृतकल्प' नामक 'स्वाद्य' पदार्थ है तथा रसायन के समान सुखदायी रस से भरी हुई अमृत नाम की दिव्य पीने की चीजें हैं। इस चक्रवर्ती के पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के ऐसे उत्तम-उत्तम ये फल हैं जो अन्य किसी के भोगोपभोग में नहीं आ सकते हैं और संसार में अद्वितीय हैं। वायु के झकोरे से उड़ते हुए जिनके अग्रभाग

आकाशरूपी आँगन को भी बुहार कर साफ कर रही हैं ऐसी पताकायें उस 'वज्रनाभि राजा के अड़तालीस करोड़ हैं।

अहो! पुण्य के बिना यह विपुल वैभव कैसे मिल सकता है? पुण्य के बिना सब दिशाओं को जीतने वाली यह जयश्री और देवताओं के द्वारा भी नमस्कार करने वाला ऐसा प्रताप कहाँ मिल सकता है?

वज्रनाभि चक्रेश्वर इतने वैभव को प्राप्त करके भी धर्म को नहीं भूले हैं प्रत्युत् अधिक-अधिक रूप में प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजन करते हैं। निर्ग्रंथ गुरुओं को, अन्य-अन्य त्यागियों को आहार आदि दान देते हैं। निरंतर शील का पालन करते हुए समय-समय पर उपवास भी करते हैं।

शहर के बाहर बगीचा है। बिना ऋतु के आम्र के फलों से आम्र वृक्ष झुक रहे हैं। अशोक, सप्तच्छद, चंपक आदि वृक्षों में नई-नई कोपलें निकली हुई हैं। बेला, चमेली, गुलाब आदि पुष्पों की सुगंधि से सारा उद्यान सुरभित हो रहा है। चारों तरफ की लतायें फूलों को बरसा-बरसाकर प्रसन्नता का अनुभव कर रही हैं। और, यह क्या? सर्प, नेवला, हरिण-व्याघ्र, वन हस्ती-शेर, चीता, भेड़िया, गौ, महिष आदि वन्य जंतुगण बड़े प्रेम से एक साथ ही विचरण कर रहे हैं। यह देखो! गाय का बछड़ा शेरनी का दूध पी रहा है। इधर से शिकारी निकले, किन्तु उनके बाण विफल जा रहे हैं और अन्य प्राणी बड़े विश्वास के साथ शिकारियों के सामने ही निर्भीक होकर खड़े हैं।

चक्रवर्ती महाराज अपने परिवारजनों से और पुरजनों

से घिरे हुए उद्यान की तरफ बढ़ते ही आ रहे हैं। कुछ दूर एक पवित्र स्फटिक पाषाण की शिला पर एक महामुनि तिष्ठे हैं। चक्रवर्ती महाराज मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें बार-बार नमस्कार करते हैं। पूजन करते हैं और महामुनींद्र के गुणों का कीर्तन करते हुए स्तुति करते हैं।

पुनः चरणों में नत होकर निकट में बैठ जाते हैं और प्रार्थना करते हैं–

''प्रभो! हम जैसे संसारी प्राणियों के उद्धार हेतु धर्मोपदेश रूपी अमृत की वर्षा कीजिये।'' मुनिराज ने उपदेश दिया–''हे राजन्! यह चैतन्य आत्मा अनंत शक्तिमान् होते हुए भी अचेतन पुद्गल के वश में हो रहा है।''

गुरु के उपदेश को सुनकर राजा वज्रनाभि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त हो गए। उस समय यह साम्राज्य–लक्ष्मी और स्त्री, पुत्र, मित्रादि, सरस पदार्थ नीरस भासने लगे। वे सोचने लगे–''मैंने चक्रीपद को प्राप्त करके इतने काल तक इंद्रिय भोगों का अनुभव किया है किन्तु आज तक तृप्ति नहीं हुई है। इन भोगों से तृष्णा वृद्धिंगत ही होती है, न कि शांत। अतः इन क्षणिक सुखों का त्यागकर शाश्वत सुख को प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिए।'' राजाधिराज सम्राट ने अपने सुयोग्य पुत्र को राज्य भार सौंपकर आप स्वयं दीक्षा लक्ष्मी को स्वीकार कर लिया। अतुल छह खंड की विभूति को पुराने तिनके के सदृश छोड़ दिया और निर्ग्रंथ दिगम्बर महामुनि बन गये।

शत्रु-मित्र, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, स्तुति-निंदा, कनक-काच और महल-मशान में परम समभाव को धारण करने वाले वे वज्रनाभि मुनिराज दुर्द्धर तपश्चरण करते हुए पृथ्वी तल पर विहार कर रहे थे।

किसी समय ये मुनिराज वन में आतापन योग से विराजमान थे। उन्हें देखते ही क्रूरकर्मा भिल्लराज अत्यंत कुपित होकर अपने तीक्ष्ण बाणों से उनके शरीर का भेदन करने लगा और कायर जनों से असहनीय ऐसा भयंकर उपसर्ग करने लगा। वे मुनिराज शरीर से पूर्णतया निस्पृह होकर ज्ञानदर्शनस्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान कर रहे हैं। आत्मा के स्वभाव से ही उत्पन्न सहज आत्मानुभूति से उपसर्ग के दुःखों का उन्हें अनुभव ही नहीं आ रहा है। यदि वे स्वात्म तत्त्व के ध्यान से किंचित् नीचे आते हैं तो चतुर्विध आराधना के स्मरण में अपने उपयोग को स्थिर करते हुए धर्म ध्यान में एकतान हो जाते हैं। इस नश्वर शरीर से चैतन्य आत्मा का प्रयाण हो जाता है वह मध्यम ग्रैवेयक के मध्यम विमान में श्रेष्ठ अहमिंद्र हो जाता है। वहाँ सत्ताईस सागर की आयु तक दिव्य सुखों का अनुभव करता है।

इधर कुछ दिन बाद वह भील रौद्र ध्यानपूर्वक शरीर को छोड़कर मुनि हत्या के पाप से सातवें नरक में चला गया। वहाँ के कष्टों का बखान कौन कर सकता है? जो भोगता है, वही जानता है या भगवान् सर्वज्ञदेव जान सकते हैं। उस अन्धकूपमय नरकवास में उसने औंधे मुख जन्म

लिया और जन्म लेते ही भूमि पर धड़ाम से गिरा, भूमि का स्पर्श होते ही जैसे हजारों बिच्छुओं ने एक साथ डंक मारा हो, ऐसी भयंकर वेदना हुई, पुनः वह नारकी पचास योजन तक ऊपर उछल पड़ा और पुनः गिर पड़ा। जैसे तपे हुए तवे पर तिलों को डालते ही वे पुटपुट करते हुए उछलने लगते हैं वैसे ही नरक धरा में नारकी जन्म लेते ही भयंकर वेदना से उछलने लगते हैं। वह नारकी भी छिन्न-भिन्न शरीर होता हुआ अत्यंत दुःखों और भयभीत उसी धरा पर लोट-पोट कर बिलबिलाने लगा और कहाँ जा सकता था? दशों दिशाओं को देखता हुआ चकित चित्त हो रोने लगता है–

"हाय! हाय! मैं यहाँ कहाँ आ गया? यह कौन स्थान है? मुझे यहाँ कौन लाया?"

इत्यादि सोचते ही उसे कुअवधिज्ञान प्रकट हो गया। जिससे सारी बातें जान लीं।

"अरे! अरे! मैं नरक भूमि में आ पड़ा हूँ, अब मेरे लिए यहाँ पर शरण कौन है? अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?

ऐसे विलाप करता हुआ वह पश्चात्ताप की दावानल अग्नि में जलने लगा।"हे प्रभो! मैंने मनुष्य पर्याय पाकर भी अधम से अधम पाप किये हैं जिससे कि इस अनंत दुःखमयी नरक पृथ्वी को प्राप्त हुआ हूँ। मैंने मद्य, माँस आदि अपवित्र अनंत जीवों के कलेवरस्वरूप ऐसे पदार्थों का भक्षण किया है। तमाम पशु-पक्षियों को बिना अपराध के मार-मार गिराया है। वन में बिना कारण ही अग्नि लगाकर असंख्य जीव भस्म किये हैं।

इस प्रकार से वह नारकी अपने पूर्वकृत पापों का स्मरण कर रहा है कि इसी बीच नये नारकी को देखकर तमाम नारकी दौड़ पड़े और नेत्रों से अँगारे बरसाते हुए सभी क्रूर कर्मा नारकी उसे मारने लगते हैं।

कोई नारकी आप स्वयं भाले का रूप लेकर, कोई तलवार बनकर, कोई मुद्गर बनकर उसे मारने लगे। अनेकों प्रकार के शस्त्ररूप बन-बनकर वे उस नारकी को तिल-तिल बराबर खंड करने लगे। हाय! देखो फिर भी शरीर के खंड-खंड होने पर भी मृत्यु नहीं है प्रत्युत् वे सब टुकड़े तत्क्षण ही पारे के समान मिलकर एक हो जाते हैं और वह बेचारा नारकी वेदना से चीखता-चिल्लाता ही रहता है। वे नारकी परस्पर में एक दूसरे को दुःख ही दुःख देते रहते हैं। कोई कोल्हू में किसी को डालकर पेल रहे हैं, कोई चक्की में पीस रहे हैं, कोई तपे हुए तेल के कड़ाव में पैर पकड़ कर उठा कर पटक देते हैं, कोई अग्नि में झोंक देते हैं, कोई शूली पर आरोहण करा देते हैं, कोई पैर काटते हैं, कोई मर्म स्थान विदार देते हैं, कोई हड्डियों का चूर्ण-चूर्ण कर देते हैं, कोई ऊपर से खाल उतार लेते हैं और कोई करवत से चीर-चीर कर अलग-अलग दो टुकड़े बना देते हैं, कोई किसी का पेट फाड़ कर अंदर की अँतड़ियाँ निकाल लेते हैं। कोई दोनों नेत्र निकाल लेते हैं, कोई खंभे से जकड़ कर बाँध कर अनेकों शस्त्रों से मारते हैं। कोई कहते हैं–

"अरे पापी! तूने मदिरा पी थी, अब पुनः पी ले।" ऐसे

कठोर वचन बोल-बोल कर पूर्व पाप की याद दिलाते हुए उसे गरम-गरम तपाया हुआ ताँबा पिला देते हैं जिससे उसका सारा शरीर गल जाता है सभी अंदर की आँतें बाहर निकल पड़ती हैं। कोई उसी के माँस को काट-काटकर उसे ही खिलाते हैं और कहते हैं–"अरे! तुझे तो माँस बहुत अच्छा लगता था।" कोई तपाये हुए लोहे के खंभे से चिपका देते हैं और उसे परस्त्री के साथ रमण करने की याद दिलाते हैं।

इस प्रकार से उस नरक भूमि में एक पल को भी चैन नहीं है। यदि तीन लोक का सभी अन्न भी खा जायें तो भी भूख शांत नहीं हो सकती है किन्तु खाने को वहाँ पर एक कण भी नसीब नहीं होता है। सागर के समस्त जल को पीने के बाद भी प्यास बुझ नहीं सकती, फिर भी वहाँ पर एक बूँद पानी नहीं है। वहाँ एक लाख योजन प्रमाण इतने बड़े लोहे के गोले को पिघलाकर डाल दो, किन्तु उसी क्षण जम जाता है, सातवें नरक में इतनी भयंकर ठंडी है। वहाँ के अपार दुःखों की कहानी यदि करोड़ों जिह्वा करके भी कोई तमाम समय वर्णन करता ही रहे तो भी वह पूरी नहीं हो सकती है। जैसे परवश वेदना ये नारकी सहन करते हैं, उसका अनंतवाँ भाग भी यदि स्ववश होकर सहन कर लें तो संसार समुद्र को ही पार कर जावें।

भील का जीव वहाँ पर सत्ताईस सागर प्रमाण मध्यम आयुपर्यंत इन दुःखों का अनुभव करता रहा है।

"सागर किसे कहते हैं?"

"दो हजार कोश प्रमाण एक लम्बा, चौड़ा और गहरा गड्ढा कल्पना में बनाइए। उसे सात दिन के अंदर जन्में हुए भेड़ों के बालों से भर दीजिए। ध्यान रखिये इन बालों के इतने छोटे खंड कर दिये जायें जिनका फिर वापस खंड ही न हो सके, ऐसे रोम-खंडों से भरे हुए उस गड्ढे की खूब ऊपर से कुटाई कर दीजिये। पुनः उनमें से एक-एक रोम को सौ-सौ बरस में निकालिए। जब वह गर्त खाली हो जाये तब एक 'व्यवहार पल्य' होता है। इसमें जितना समय लगा है उसे असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों से गुणा कर दीजिये। इसमें जितने समय जावेंगे वह 'उद्धार पल्य' कहलाता है। अनंतर सौ वर्ष में जितने समय हैं उतने समयों के उद्धार पल्य के रोमों को गुणित करने से जितने समय होवें वह 'अद्धापल्य' हो जाता है। इन दश कोड़ा कोड़ी'[1] 'अद्धापल्यों' का एक सागर होता है। ऐसे सत्ताईस सागर प्रमाण काल तक यह नारकी नरक के दुःखों को भोगता रहा है।

(9)

अयोध्यापति आनंद कुमार महाराज की राज्य सभा।

राज्यसभा में महामंडलीक पद को विभूषित करते हुए महाराज आनंद कुमार रत्नखचित स्वर्ण सिंहासन पर आरूढ़ हैं। वारांगनायें चामर ढोर रही हैं। महाराज आनंदकुमार का वैभव विशाल है। आठ हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी आज्ञा

1.एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जो संख्या आती है व कोड़ाकोड़ी कहलाती है।

को शिरसा वहन करते हैं। देशों दिशाओं में महाराज के गुणों की उज्ज्वल कीर्ति व्याप्त हो रही है। अयोध्यापति राजा वज्रबाहु और उनकी रानी प्रभाकुमारी माता धन्य हैं जिन्होंने ऐसे कुल दीपक को जन्म दिया है।

स्वामिहित नाम के एक विवेकशील मंत्री ने कहा– "महाराज! इस समय ऋतुओं का राजा बसंत आ गया है। सर्वत्र सभी जन कुछ-न-कुछ महोत्सव कर रहे हैं। अभी फाल्गुन सुदी अष्टमी से पूर्णिमापर्यंत आष्टान्हिका महापर्व आ रहा है। इस अवसर में नंदीश्वर व्रत किया जाता है और महामहिम पूजा का अनुष्ठान भी होता है। हे प्रभो! जिनेन्द्र देव की पूजा संपूर्ण पापों को नाश करने वाली है' पुनः पर्व के संयोग से वह पूजा अतिशय पुण्य को प्रदान करने वाली हो जाया करती है। जिन पूजा के समान इस जगत् में और कोई उत्तम कार्य न हुआ है और न हो सकता है। जिनेन्द्र देव की पूजा की भावना ही सभी दुःखों के दूर करने का एक अमोघ उपाय है।"

मंत्री के उपदेश से मंडलेश्वर राजा आनंद कुमार ने अतुल वैभव के साथ नंदीश्वर पूजन का उपक्रम किया। विधान कार्य में अगणित लोगों ने भाग लिया था। उस पूजा को देखने के लिए वहाँ पर विपुलमति नाम के मुनिराज पधारे। आनंद राजा ने उनकी बड़ी विनय से वंदना की तथा उनके मुखचंद्र से धर्मामृत का पान किया। अनंतर राजा ने कहा–

"भगवन्! मुझे कुछ संशय हो रहा है सो कृपया आप उसका निवारण कीजिए। गुरुदेव! ये जिनेन्द्र देव की प्रतिमायें तो धातु-पाषाण आदि से निर्मित हैं अतः अचेतन हैं पुनः पूजन करने वाले सचेतन को ये पुण्य फल कैसे प्रदान कर सकती हैं? प्रभो! इनमें किसी का भला-बुरा करने की शक्ति कहाँ है?" मुनिराज ने कहा–

"राजन्! आपने समयोचित प्रश्न किया है, सुनिये! यद्यपि ये जिन प्रतिमायें अचेतन हैं और जिनेन्द्र मंदिर अचेतन हैं तथापि वे भव्य जीवों के लिए पुण्य बंध के ही कारण हैं। यथार्थ में पुण्य बंध परिणामों से होता है। जिनेन्द्र भगवान रागादि दोषों से रहित शस्त्र, वस्त्र, स्त्री, पुत्रादि से रहित हैं। उनके मुख की वीतराग सौम्य छवि के दर्शन करने वालों के परिणामों में जितनी निर्मलता और प्रकषर्ता होती है वैसे अन्य कारणों से नहीं हो सकती है। जैसे कल्पवृक्ष, चिंतामणि आदि अचेतन होते हुए भी मनवांछित और मन चिंतित फल देने में समर्थ हैं वैसे ही जिनप्रतिमायें भी संपूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ हैं।

प्रतिमारूप में वीतराग मुद्रा को देखकर जिनेन्द्र देव का स्मरण होता है जिससे अनंतगुणा पुण्यबंध हो जाता है। देखिये! मणि, मंत्र, औषधि आदि अचेतन पदार्थ भी विष अथवा रोगादि को नष्ट करते हुए देखे जाते हैं वैसे ही जिनबिम्ब का दर्शन और पूजन भी समस्त पाप को भस्मसात् करने वाला है। अधिक क्या जो मूढ़जन जिन प्रतिमाओं का दर्शन

नहीं करते हैं या उनकी निंदा करते हैं वे स्वयमेव अनंत संसार सागर में डूब जाते हैं। जैसे राजा की मुद्रा (फोटो-चित्र) आदि का अपमान करने पर मनुष्य राजद्रोही माना जाता है और राजा द्वारा दण्ड को प्राप्त होता है वैसे ही जिन मुद्रा से अंकित मूर्तियाँ साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के सदृश पूज्य मानी जाती हैं उनका अपमान करने वाला व्यक्ति धर्मद्रोही, आत्मद्रोही होता हुआ कर्म की मार से अनंत दुःखों को प्राप्त करता है।''

इस प्रकार से जिनप्रतिमा दर्शन पूजन का फल बतलाते हुए मुनिराज ने राजा के सामने तीन लोक के अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करना प्रारंभ किया, जिसमें सबसे प्रथम वे सूर्य के विमान में स्थित जिनमंदिर का वर्णन करने लगे, वे बोले–

''हे राजन्! सूर्य का विमान $\frac{48}{61}$ योजन का है। एक योजन में लगभग 4000 मील होते हैं अतः $\frac{48}{61}$ x4000=3147 $\frac{48}{61}$ =मील प्रमाण विस्तृत सूर्य का विमान होता है। यह पृथ्वी तल से 800 योजन अर्थात् 3200000 मील ऊँचाई पर है इसमें बारह हजार किरणें हैं जो कि अति उग्र और उष्ण हैं। यह विमान अर्ध गोलक के सदृश है अर्थात् जैसे गेंद या नारंगी को बीच से काटने पर जैसा आकार होता है वैसा ही इन विमानों का आकार है।

सूर्य के विमान को आभियोग्य (वाहन) जाति के 16000 देव सतत खींचते रहते हैं। 4000 देव पूर्व दिशा में सिंह का

आकार धारण करते हैं, 4000 देव दक्षिण में हाथी का आकार, 4000 देव पश्चिम में बैल का आकार एवं 4000 देव उत्तर में घोड़े का आकार धारण किये रहते हैं। सूर्य का विमान पृथिवीकायिक चमकीली धातु से बना हुआ है जो कि अकृत्रिम है। इस सूर्य बिंब में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के आतप नामकर्म का उदय होने से उसकी किरणें चमकती हैं तथा उसके मूल में उष्णता न होकर किरणों में ही उष्णता होती है। आकाश में सूर्य की 184 गलियाँ है। इनमें से सूर्य क्रमशः एक-एक गली में संचार करते हैं। चूँकि जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चंद्रमा होते हैं। एक मिनिट में सूर्य की गति लगभग 447623 मील प्रमाण है।

सूर्य विमान में नीचे का गोल भाग तो हम आपको दिख रहा है तथा ऊपर के समतल भाग में चारों तरफ गोल तटवेदी (परकोटा) है उसमें चारों दिशाओं में गोपुर–मुख्य फाटक है। इन विमान के बीचों-बीच में उत्तम वेदी सहित राजांगण हैं। उसके ठीक बीच में रत्नमय दिव्यकूट है। उस कूट पर वेदी एवं चार तोरण द्वारों से युक्त जिनमंदिर हैं। वे जिनमंदिर मोती व सुवर्ण मालाओं से रमणीय और उत्तम वज्रमय किवाड़ों से संयुक्त दिव्य चंद्रोपकों से सुशोभित हैं। वे जिनभवन देदीप्यमान रत्नदीपकों से सहित अष्ट महामंगल द्रव्यों से परिपूर्ण वंदनमाला, चमर, क्षुद्र घंटिकाओं के समूह से शोभायमान हैं। उन जिन भवनों में स्थान-स्थान पर विविध प्रकार की क्रीड़ाशालायें बनी हुई हैं।

वे जिन भवन समुद्र के सदृश गंभीर शब्द करने वाले मर्दल, मृदंग, पटह आदि विविध प्रकार के दिव्य वादित्रों से नित्य शब्दायमान रहते हैं। उन जिन भवनों में तीन छत्र, सिंहासन, भामंडल और चामरों से युक्त 108 जिन प्रतिमायें विराजमान हैं। उन जिनेन्द्र देव के भवन में श्रीदेवी व श्रुतदेवी यक्षी एवं सर्वाण्ह व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ भगवान के आजू-बाजू में शोभायमान होती हैं। सभी देवगण गाढ़ भक्ति से जल, चंदन, तंदुल, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से नित्य ही उनकी पूजा करते रहते हैं।

जो भव्य जीव इन जिन प्रतिमाओं की भक्ति भाव से पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं वे संसार के समस्त अभ्युदयों को भोग कर परंपरा से निर्वाण सुख को अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं।

इस जिन भवन के चारों ओर समचतुष्कोण, लंबे और नाना प्रकार के सुंदर-सुंदर सूर्यदेव के भवन बने हुए हैं। कितने ही भवन मरकत वर्ण के, कितने ही कुंद पुष्प के और कितने ही सुवर्ण सदृश बने हुए हैं। इन सूर्य भवनों में सिंहासन पर सूर्यदेव विराजमान होते हैं। सूर्य की मुख्य देवियाँ चार हैं–द्युतिश्रुति, प्रभंकरा, सूर्यप्रभा और अर्चिमालिनी। सूर्य की और भी बहुत सी देवियाँ हैं। इसी प्रकार से मुनिराज ने बहुत ही विस्तृत उपदेश दिया।

सूर्य विमान के जिनमंदिर की असाधारण विभूति को

सुनकर, आनंद महाराज को बहुत ही श्रद्धा हो गयी। वह राजा उस समय से प्रतिदिन और अंत समय में दोनों हाथ जोड़कर तथा मुकुट झुकाकर सूर्य के विमान में स्थित होकर जिन प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा और अपने प्रासाद की छत पर स्थित होकर उन सूर्य विमान में स्थित जिन प्रतिमाओं को प्रतिदिन अर्घ चढ़ाकर पूजा करने लगा। इतना ही नहीं, उसने कारीगरों के द्वारा मणि और सुवर्ण का एक सूर्य विमान भी बनवाया और उसमें कांति से चकचकायमान सुंदर जिन मंदिर बनवाया। उसमें रत्नों की जिन प्रतिमायें विराजमान कराईं। पुनः उसने शास्त्रोक्त विधि से भक्तिपूर्वक आष्टान्हिक पूजा की। चतुर्मुख, रथावर्त, सबसे बड़ी सर्वतोभ्रद और याचकों को मुँह माँगा दान देने वाली ऐसी 'कल्पवृक्ष' नाम की महापूजायें कीं।

इस प्रकार उन आनंद महराज को पूजा करते देख उनकी प्रामाणिकता से देखा-देखी अन्य लोग भी स्वयं भक्तिपूर्वक सूर्य मंडल की स्तुति करने लगे। आचार्य कहते हैं कि 'इस लोक में उसी समय से सूर्य की उपासना चल पड़ी है।[1]

इस तरह आनंद नरेश बहुत काल तक धर्माराधन, जिनपूजन, दान आदि करते हुए सुख से प्रजा का पालन करते रहे हैं।

---

1. तदाप्रभृति लोकेस्मिन् वभूवाकेपिसेवनम्। (उत्तर पु.पृ.73)

(10)

आनंद नरेश देवेन्द्र के समान अपनी सभा में स्थित हैं। अकस्मात् दर्पण में मुख अवलोकन करते ही उन्हें अपने मस्तक पर एक धवल केश दिखाई दिया। राजा का मन कंपायमान हो उठा। तत्काल वे भोगों से और विशाल राज्य वैभव से उदास हो गये। उनका मोह कर्म एकदम मंद हो गया। वे सोचने लगे–अहो! वाल्य अवस्था व्यतीत हो गई, तरुणाई आई और अब वह भी विदा माँग रही है, जरादेवी (बुढ़ापा) ने अब मेरे इस शरीररूपी घर में प्रवेश कर लिया है। इस प्रकार से मरण समय नजदीक आ रहा है, वह देवी इस बात का सूचना पत्र लेकर ही आई है।

बालक देह कोपल है, यौवन में वह पत्तेरूप हो जाता है, वृद्धावस्था पके हुए पीले पत्ते के सदृश है जो कि कालरूपी हवा के झकोरे से गिर जाता है। कोई जीव गर्भ से ही मर जाते हैं, कोई जन्मते ही शरीर छोड़ देते हैं, कोई बाल्यदशा धारण कर चले जाते हैं, कोई यौवन में नरकाया से वंचित हो जाते हैं। इस प्रकार से मरण के समय का कुछ भी नियत काल नहीं है परन्तु यह बात अवश्य ही निश्चित है कि जो जन्म लेता है वह मरता अवश्य है। पर्वत से पड़ती हुई नदी के समान क्षण-क्षण में आयु निकलती चली जा रही है। राग से अंधा हुआ मैं भोगों में मग्न हो रहा हूँ। हाय! हाय! बड़े दुःख की बात है कि मैंने इतना अमूल्य जीवन घर में व्यतीत कर दिया है। खैर! हुआ सो हुआ, गई सो गई। अभी हमें

शीघ्र ही आत्महित के कार्य में लग जाना चाहिए। ऐसा सोचते ही राजा ने मंत्रियों से अपना अभिप्राय प्रगट कर दिया। सुयोग्य बड़े पुत्र को राज्य भार सौंपकर आप सागरदत्त मुनिराज के समीप पहुँचे और उनसे प्रार्थना की–

"हे गुरुदेव! मैं अब इस संसार समुद्र से पार होने के लिए चारित्ररूपी जहाज पर बैठना चाहता हूँ सो आप मेरे कर्णधार होइये और मुझे इस अपार संसार से शीघ्र पार पहुँचाइये।"

उस प्रार्थना को सुनकर तरणतारण महामुनि ने अनेकों राजाओं के साथ उन महामंडलेश्वर आनंद नरेश को दिगम्बरी दीक्षा दे दी। जिसमें अट्ठाईस मूलगुणों का पालन होता है।

5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इंद्रियनिरोध, 6 आवश्यक और 7 शेष गुण ये 28 मूलगुण होते हैं।

सम्पूर्ण त्रस-स्थावर जीवों की विराधना का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। असत्य और अप्रशस्त वचन बोलने का सर्वथा त्याग करना सत्य महाव्रत है। किसी की वस्तु बिना दी हुई न ग्रहण करना अचौर्य महाव्रत है। स्त्रीमात्र का त्याग कर देना ब्रह्मचर्य महाव्रत है और वस्त्रमात्र भी परित्याग कर देना परिग्रह त्याग महाव्रत है। चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है, हित, मित, प्रिय वचन बोलना भाषा समिति, छ्यालीस दोष टालकर शुद्ध आहार लेना एषणासमिति, देख-शोधकर पुस्तक आदि धरना, उठाना आदाननिक्षेपण समिति और प्रासुक भूमि में मल-मूत्रादि विसर्जन करना

उत्सर्ग समिति है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना पंचेन्द्रिय निरोध है।

साम्यभाव पूर्वक त्रिकाल सामायिक करना सामायिक आवश्यक है। चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तुति आवश्यक है, एक तीर्थंकर आदि की स्तुति करना वंदना है, लगे हुए दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है, आगामी दोषों का त्याग करना या आहार आदि का त्याग करना प्रत्याख्यान है और योग मुद्रा आदि से स्थिरचित्त होकर कायोत्सर्ग, ध्यानादि करना कायोत्सर्ग आवश्यक है। ये षट् आवश्यक हैं।

वस्त्रमात्र का त्याग कर दिगम्बर रहना, केशलोंच करना, स्नान नहीं करना, दंतधावन नहीं करना, भूमिशयन करना, एक बार भोजन करना और खड़े होकर आहार लेना ये सात शेष गुण हैं। ऐसे ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

आनंद मुनिराज महान आनंद और उत्साह के साथ इन मूलगुणों का पालन करने लगे। बारह प्रकार के तपश्चरण में भी तत्पर थे और बाईस परीषहों को जीतते हुए उत्तरगुणों को भी धारण कर रहे थे। शुभ लेश्या के धारक उन मुनिराज ने चारों आराधनाओं की आराधना की थी। गुरु के पादमूल में बैठकर उन्होंने ग्यारह अंग श्रुत का अध्ययन किया। अनंतर तीर्थंकर नामकर्म के लिए कारणभूत ऐसी सोलह कारण भावनाओं का चिंतन किया।

सोलह कारण भावना

1. **दर्शन विशुद्धि**–पच्चीस मल दोष रहित विशुद्ध

सम्यग्दर्शन को धारण करना।

2. **विनय सम्पन्नता**–देव, शास्त्र, गुरु तथा रत्नत्रय को विनय करना।

3. **शीलव्रतों में अनतिचार**–व्रतों और शीलों में अतिचार नहीं लगाना।

4. **अभीक्ष्णज्ञानोपयोग**–सदा ज्ञान के अभ्यास में लगे रहना।

5. **संवेग**–धर्म और धर्म के फल में अनुराग होना।

6. **शक्तितस्तप**–अपनी शक्ति को न छिपाकर अंतरंग-बहिरंग तप करना।

7. **शक्तिस्त्याग**–अपनी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि, अभय और ज्ञान दान देना।

8. **साधु समाधि**–साधुओं का उपसर्ग आदि दूर करना या समाधि सहित वीरमरण करना।

9. **वैय्यावृत्यकरण**–व्रती, त्यागी, साधर्मी की सेवा करना, वैय्यावृत्ति करना।

10. **अर्हद्भक्ति**–अरहंत भगवान की भक्ति करना।

11. **आचार्य भक्ति**–आचार्य की भक्ति करना।

12. **बहुश्रुत भक्ति**–उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना।

13. **प्रवचन भक्ति**–जिनवाणी की भक्ति करना।

14. **आवश्यक अपरिहाणि**–छह आवश्यक क्रियाओं का सावधानी से पालन करना।

15. **मार्ग प्रभावना**–जैनधर्म का प्रभाव फैलाना।

16. प्रवचन वात्सल्य–साधर्मीजनों में अगाध प्रेम करना।

आनंद मुनिराज ने इन भावनाओं को भाते हुए सातिशय तीर्थंकर प्रकृति का बँध कर लिया।

तपश्चरण के बल से मुनिराज को अनेकों प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न हो गईं। वे योगिराज जिस वन में ध्यान लगाते हैं उस वन में रहने वाले और आने वाले जीवों की सभी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। सूखे सरोवरों के तट पर विचरण करते हैं। सभी ऋतु के फल-फूल एक साथ आ जाते हैं। जात विरोधी सिंह-हरिण, नकुल, मयूर, सर्पादि सभी जीव बड़े प्रेम से मिलकर विचरण करते हैं। ये महामुनि परम समतारस के आस्वादन में तत्पर हैं और अपनी ही शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हुये वीतराग सुखामृत का पान करके तृप्त हो रहे हैं।

एक समय वे मुनिराज क्षीरवन में प्रायोपगमन सन्यास लेकर प्रतिमायोग से ध्यान में लीन हो गये। उसी समय भयंकर गर्जना करता हुए एक सिंह वहाँ आता है जो कि कमठचर पापी भील का जीव नरकों के भयंकर दुःखों को भोग कर आया है। वह इन मुनिराज को देखता है। संस्कारवश क्रोध कषाय भड़क उठती है। वह शीघ्र ही दहाड़ मारकर मुनिराज पर धावा बोल देता है और उनके कंठ को पकड़ लेता है। तीक्ष्ण नखों से शरीर का विदारण करता है और कठोर पैनी डाढ़ों से सारे बदन को छिन्न-भिन्न कर देता है। मुख में माँस पिंड का ग्रास भर-भर कर खाने लगता है।

इस पशुकृत उपसर्ग को वे साधुजन परम शांति भाव से सहन करते हैं। किंचित् मात्र भी उनके मन में शरीर के प्रति राग और शत्रु के प्रति द्वेष नहीं है। परम धीर-वीर तपोधन दुःसह वेदना को ना कुछ गिनते हुए अपने ज्ञानपुंज स्वरूप, अनंत गुणों के निधान आत्मा के चिंतन में अपना उपयोग लगा लेते हैं। अहा, हा! देखो तो सही, इस क्षमा भाव की महिमा को। जिसके प्रभाव से वे मुनिराज इस नश्वर भौतिक मल-मूत्र के पिंडस्वरूप देह को छोड़कर दिव्य वैक्रियक देह धारण कर लेते हैं। अच्युत स्वर्ग के प्राणत नामक विमान में इंद्र हो जाते हैं।

अहो! समभाव की कितनी महिमा है। जो कि इस जीव को स्वयं उन्नति के शिखर पर पहुँचा देती है। वहाँ के वैभव को देखकर वे आनंदचर इंद्रराज धर्म और धर्म के फल में अतिशय प्रीति को प्राप्त होते हैं। जहाँ की पृथ्वी चंद्रकांत, मूँगा, मणि आदि से निर्मित है। रात्रि-दिन का भेद नहीं है। रत्नों के उद्योत की जगमगाहट से सूर्य का तेज भी लज्जित हो जाता है। मणियों के कंगूरे जिन पर लगे हुए हैं, ऐसे कांचन के परकोटे से वेष्टित स्वर्गपुरी का धाम है। गहरी खाई जल से भरी हुई है फिर भी उसमें जलचर जीव नक्र, चक्र, मगर आदि कुछ भी नहीं हैं। वहाँ पर चंपक, मंदार, पारिजात, सप्तच्छद आदि नाना तरह के फूलों से भरे हुए कल्पवृक्ष मंद-मंद पवन से अपनी शाखाओं को हिला रहे हैं। छहों ऋतु की शोभा देव-देवियों के मन को बरबस ही हरण

किया करती है। वहाँ पर ईति, भीति, चोरी, उपद्रव आदि संकट रंचमात्र भी नहीं है। ऐसी स्वर्गपुरी में वे इंद्रदेव उपपाद शय्या से नवयौवन शरीर को प्राप्त करके उठकर बैठ जाते हैं। देव-देवियों के जयकारों से दिशायें मुखरित हो उठती हैं।

अपने दिव्य अवधि चक्षु के द्वारा सारी बातों को स्पष्ट जानकर वे इंद्र मंगल स्नान आदि विधि करके सबसे प्रथम जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। अनंतर अपनी विभूति का, देवांगनाओं का अवलोकन करते हैं। उनके शरीर में मल-मूत्र, पसीना आदि नहीं हैं। न उनकी पलकें लगती हैं न नख और केश ही बढ़ते है। बुढ़ापा, अकाल मृत्यु और व्याधि वहाँ पर नहीं हैं। इंद्रराज अपने परिवार देवों के साथ कभी नंदीश्वर में पूजा रचाते हैं तो कभी सुमेरु पर्वतों की वंदना के लिए चले जाते हैं, कभी सीमंधर आदि तीर्थंकर के समवसरण में दिव्यध्वनि के द्वारा दिव्य धर्मामृत का पान करते हैं तो कभी ऋषि, मुनियों के दर्शन का लाभ लेते हैं। कभी नंदन वन में क्रीड़ा करते हैं तो कभी सभा में बैठकर देव-देवांगनाओं को संतुष्ट करते हुए मनोविनोद करते हैं। कभी-कभी उन्हें धर्म का उपदेश देते हुए कृतार्थ हो जाते हैं। भावी तीर्थंकर वे देवेन्द्र इस अतुल वैभव को भोगते हुए भी उसमें आसक्त नहीं हो रहे हैं।

बीस सागर की उनकी आयु है। बीस हजार वर्ष बाद मानसिक अमृतमयी आहार है और बीस पक्ष (10 माह) बीत जाने पर वे उच्छ्वास लेते हैं। साढ़े तीन हाथ का उनका दिव्य

शरीर है। इस प्रकार वे इंद्रराज अपनी आयुप्रमाण दिव्य सुखों का अनुभव कर रहे हैं।

(11)

वाराणसी नगरी में महाराज अश्वसेन अपने सिंहासन पर स्थित हैं–वंदीगण महाराज के अगणित गुणों का बखान कर रहे हैं तथा समय-समय पर मंत्रीगण राज्य की सुव्यवस्था और प्रजा के सुख–वैभव का वर्णन करते हुए महाराज को प्रसन्न कर रहे हैं। इसी बीच सौधर्म स्वर्ग में अपनी सुधर्मा सभा में बैठे हुए सौधर्म इंद्र ने अपने दिव्य अवधि ज्ञानरूपी लोचन से कुछ देखकर पुनः धनपति (कुबेर) को बुलाकर कहा–

''धनद! आनंद नरेश का जीव जो कि यहाँ आनत स्वर्ग में इंद्र पद के सुखों का उपभोग कर रहा है उसकी आयु छह मास की ही शेष रही है, वे तेईसवें अवतार हैं। इसलिए अब शीघ्र ही तुम बनारस नगर में जाओ और त्रिभुवन तिलक के जनक बनने का अतिशय सौभाग्य प्राप्त करने वाले अश्वसेन महाराज के महल में अविरल रत्नों की वर्षा शुरू कर दो।''

'जो आज्ञा महाराज!' कह कर कुबेर हाथ जोड़ कर इंद्रराज को सिर से प्रणाम कर उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर वहाँ से सीधे बनारस नगर में पहुँचता है और माता वामा देवी के आँगन में अनर्घ्य–अमूल्य रत्नों की वर्षा करना प्रारंभ कर देता है। उस समय ऐसा मालूम होता है कि मानों स्वर्गलोक की लक्ष्मी ही जिनमाता की सेवा के लिए उतरी हों। प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़प्रमाण रत्नों की मोटी धारा

बरसती है उसके साथ सुरभित कल्पवृक्ष के सुमन बरसते हैं, सुगंधित गंधोदक बरसता है, देवों के दुंदुभि बाजे महासागर के समान गंभीर शब्द करते हुए जनता को आह्लादित करते हैं और देवों के द्वारा किये गये 'जय-जयकार' शब्द महापुण्य की महिमा को प्रगट करते हैं अर्थात् उस समय देवगण इंद्र की आज्ञा से इन पंचाश्चर्यों को करते हैं।

कुछ दिन बाद एक दिन की शुभ रात्रि में महारानी वामादेवी माणिक्य जड़ित रत्न पलंग पर सोई हुई हैं। मणिमय दीपक अपनी आभा बिखेर रहा है। ऐसा लगता है मानो वह महारानी के तेज को प्राप्त करने की उत्कंठा ही दिखला रहा हो, किन्तु अचेतन रत्न के तेज में जिन-जननी के उस अलौकिक तेज का एक अंश भी नहीं आ सकता था। पिछली रात्रि में माता ने जिनजननी के पद भार को धारण करते हुए ही उत्तम-उत्तम सोलह स्वप्न देखे। ऐरावत हाथी, शुभ्र बैल, सिंह, लक्ष्मी देवी, दो फूलमाल, उदित होता हुआ सूर्य, तारावलि से वेष्ठित पूर्ण चंदमा, जल में तैरती हुई मछलियों का युग्म, कमल से ढँके पूर्ण स्वर्ण कलश, सरोवर, समुद्र, सिंहासन, देवविमान, धरणेन्द्र विमान, रत्नों की राशि और निर्धूम अग्नि ये सोलह स्वप्न थे।

पुनः सुख निद्रा को पूर्ण कर माता मांगलिक बाजों की ध्वनि के साथ जागृत होती हैं और अपनी प्राभातिक क्रिया से निवृत्त होकर राजसिंहासन पर आसीन अपने पतिदेव के पास पहुँचकर नमस्कार करके उनके द्वारा उचित आदर को

प्राप्त करके अर्धासन पर बैठ जाती हैं और सामने देखे हुए स्वप्नों को निवेदन करके उनके फल की जिज्ञासा में प्रत्युत्तर की अपेक्षा करती हैं। उसी समय महाराज अश्वसेन अपने अवधिज्ञान के बल से चिंतवन कर एक-एक स्वप्न के फल को पृथक्-पृथक् बतलाते हुए कहते हैं।

"देवी! आपके गर्भ में त्रैलोक्यपति तीर्थंकर का जीव अवतरित हो चुका है। आप जगत्पति पुत्ररत्न को प्राप्त करेंगी जिसके पुण्य फल के निमित्त से ही तो रुचक पर्वत निवासिनी तथा कुलाचल वासिनी देवियाँ आकर आपकी सेवा कर रही हैं।

वामादेवी अपने पतिदेव के मुखचंद्र के वचनामृत से परम संतोष और हर्ष को प्राप्त होती हुई अपनी स्त्रीपर्याय को सार्थक समझती हैं। इधर तीर्थंकर के पुण्य के प्रभाव से स्वयं ही देवों के यहाँ आसन कंप आदि के द्वारा सूचना मिल जाने से सौधर्म इंद्र असंख्य देव परिवारों के साथ बनारस नगरी में आकर जिनराज के माता-पिता का दिव्य अभिषेक आदि करके गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। जहाँ पर साक्षात् सौधर्म इंद्र ही उत्सव को सम्पन्न करने वाला है वहाँ के महोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है? यह दिन वैशाख बदी द्वितीया का था जो कि गर्भकल्याणक के मंगल से युगानुयुग तक मंगलमय ही रहेगा।

राजमहल में श्री आदि देवियाँ नाना प्रकार से माता-पिता की सेवा करती हुई उनके मन को आनंदित किया करती हैं। जैसे-जैसे गर्भ के बालक की वृद्धि होती जाती है,

वैसे-वैसे ही माता की बुद्धि अतिशयपने को प्राप्त होती चली जाती है। देवियाँ नाना प्रकार के प्रश्नों को करके वामादेवी के मुख से उनका चमत्कारिक उत्तर प्राप्त करके अपने आप को कृतार्थ कर रही हैं। देखते-देखते नव महीने का समय भी व्यतीत हो गया। जैसे सीप में मोती रहता है वैसे ही भगवान तीर्थंकर माता के गर्भ में तिष्ठ रहे हैं, न स्वयं मल से लिप्त हैं, न क्लेश को प्राप्त होते हैं और न उनके निमित्त से माता को ही रंचमात्र भी कष्ट का आभास होता है। यह एक तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य की ही महानता है।

पौष बदी एकादशी की उत्तम तिथि के दिन सर्वश्रेष्ठ बेला में पूरब दिशा के समान वामादेवी ने त्रिभुवन कमल को विकसित करने वाले अद्भुत सूर्यस्वरूप पुत्र को जन्म दिया। पिता अश्वसेनरूपी उदयाचल से उदित होता हुआ बालसूर्य तीन ज्ञानरूपी किरणों के प्रकाश से देदीप्यमान हो रहा था।

उसी क्षण सहसा स्वर्ग में बिना बजाये घंटे बजने लगे। ज्योतिषवासी देवों के यहाँ स्वयं ही सिंहनाद होने लगा, भवनवासियों के भवनों में स्वयं ही शंख ध्वनि हो उठी और व्यंतरवासी देवों के यहाँ भेरी बजने लगी। ये बाजे भगवान के प्रखर पुण्य से प्रेरित हुए स्वयं ही वाचालित हो उठे थे। इंद्रों के आसन अपने आप कंपायमान हो उठे और उनके मस्तक के मुकुट स्वयं ही झुक गये। उस समय सुर कल्पवृक्षों से भी न रहा गया और वे भगवान की भक्ति में विभोर हो विविध प्रकार के पुष्पों की वर्षा करने लगे। सौधर्म इंद्र सभी

अतिशय विशेषों से जिन जन्म की सूचना को पाकर आसन छोड़कर सात कदम आगे बढ़कर पुनः-पुनः जिन बालक को नमस्कार करता हुआ असीम पुण्य संचित कर लेता है। अनंतर ऐरावत हाथी पर चढ़कर सम्पूर्ण इंद्र-प्रतीन्द्रों सहित अपनी शची देवी और असंख्य सुर परिवारों के साथ बनारस आता है।

इंद्र की आज्ञा से इंद्राणी प्रसूति गृह में जाकर जिन बालक का दर्शन कर आनंद को प्राप्त होती हुई बालक को गोद में उठा लेती है। उस समय उसे इतना हर्ष होता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वास्तव में यही कारण है कि वह शची देवी अपनी स्त्रीपर्याय को छेदकर पुनः पुरुष जन्म लेकर मोक्ष चली जाती है अर्थात् इंद्राणी एक भवावतारी ही होती है। एक इंद्र के जीवन में उनकी चालीस नील प्रमाण (400000000000000) शची देवियाँ मोक्ष चली जाती हैं क्योंकि इंद्र की आयु सागरोपम से है और इंद्राणियों की आयु पल्योपम से है।

वह शची देवी जिनबालक को लेकर इंद्र के कर-कमलों में सौंप देती है। इंद्र तत्क्षण ही ऐरावत हाथी पर बैठकर जिनबालक को गोद में लिये हुए सपरिवार सुमेरु पर्वत पर पहुँच जाते हैं और वहाँ तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक उत्सव करते हैं। पुनः बालक को वस्त्राभूषण के अलंकृत कर "पार्श्वनाथ" ऐसा नामकरण करके वापस बनारस आकर उस बालक को माता-पिता को सौंपकर पुनः वहाँ पर जन्म

कल्याणक महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

इंद्र तीर्थंकर शिशु के अंगूठे में अमृत को स्थापित कर देता है। उसी अँगूठे को चूसकर जिनबालक वृद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु वे माता के स्तन का पान नहीं करते हैं। इंद्र की आज्ञा से प्रभु के साथ उन्हीं के अनुरूप रूप लेकर देवगण क्रीड़ा करते रहते हैं। अहो! उन देवों का भी महान सौभाग्य है कि जो बालक के साथ बालकरूप में क्रीड़ा करते हुए मनोरंजन करते हैं। प्रभु के जन्म से ही दस अतिशय प्रगट रहते हैं। उनके नाम–

1. अतिशय सुंदर रूप जो कि तीन लोक के समस्त जीवों से भी उपमातीत है। इंद्र भी जिस रूप को देखकर तृप्त न होते हुए एक हजार नेत्र बना लेता है फिर भी अतृप्त ही बना रहता है। सच है कि जिनके माता-पिता के शरीर में भी मल-मूत्र नहीं है उनके सुंदर रूप का क्या कहना? कहा भी है–

तित्थयरा तिप्पयरा हलहर चक्काइं वासुदेवाइं।
पडिवास भोगभूमिय आहारो णत्थि णीहारो।।

तीर्थंकर, उनके माता-पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और भोगभूमिया जीव इनके आहार तो है किन्तु नीहार नहीं है।

अतः प्रभु का रूप अतीव सुंदर है, 2. उनके शरीर में सुगंध आती है, 3. शरीर में पसीना नहीं होता है, 4. मल-मूत्र नहीं रहता है, 5. उनकी वाणी प्रिय और हितरूप होती है,

6. शरीर में रुधिर दूध के समान श्वेत होता है, 7. शरीर में अतुल्य बल होता है, 8. शरीर में उत्तम-उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते हैं, 9. उनका संस्थान समचतुरस्र रहता है और 10. उनका संहनन वज्रवृषभनाराच नाम का होता है।

क्रम-क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ अद्भुत कल्पवृक्ष की उपमा धारण करते हैं। जब प्रभु सोलह वर्ष की अवस्था में प्रवेश कर चुके थे, एक बार सिंहासन पर विराजमान थे, अवसर पाकर महाराज अश्वसेन ने अपने कर्तव्य के नाते भगवान पार्श्वनाथ से विवाह करने का प्रस्ताव रखा किन्तु तीर्थंकर कुमार ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और बाल-ब्रह्मचारी ही रहे।

एक समय श्री पार्श्वनाथ बहुत से राजपुत्रों के साथ (राजपुत्र के वेश में देवों के साथ) हाथी पर सवार होकर बनारस के उद्यानों में विचरण कर रहे थे। वहाँ पर प्रभु देखते हैं कि एक तापसी साधु पंचाग्नि तप कर रहे थे। ये प्रभु पार्श्वनाथ ने नाना थे अर्थात् माता वामा देवी के पिता थे।

पार्श्वनाथ वहाँ पर खड़े हो गए, बिना नमस्कार किए हुए स्तब्ध प्रभु को देखकर वह तापसी सोचने लगा–

"अहो! मैं इस बालक का नाना हूँ फिर भी यह मेरी विनय नहीं कर रहा है।" ऐसा सोचते-सोचते वह अति क्रोध में आकर हाथ में कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी चीरने लगा।

उसके हाथ में कुल्हाड़ी लेते ही दया के रत्नाकर श्री प्रभु वचनामृत वर्षा को करते हुए हित, मित और प्रिय वचन बोले–

"हे तापसी! यह काठ मत चीरो, इसमें नाग युगल बैठे हुए हैं।" यह सुन तापसी कहता है–

"अरे! क्या तू ही नारायण, महादेव या ब्रह्मा का अवतार है जो कि सम्पूर्ण चराचर का ज्ञाता बन रहा है? तू कैसे कह रहा है कि इस लकड़ी में सर्प युगल है?" ऐसा कहते-कहते ही उसने कुल्हाड़ी से लकड़ी के दो टुकड़े कर दिए और तत्क्षण ही उस नाग युगल के दो टुकड़े हो गये। उसी समय तीर्थंकर प्रभु ने पुनः कहा–

"हे तापसी! तुम व्यर्थ ही गर्व कर रहे हो, देखों! तुम ज्ञान के बिना अपने तन को कष्ट दे रहे हो किन्तु सोचो तो सही, तुम्हारे मन में किंचित् दया के बिना धर्म भी नहीं हो सकता है।" उस समय वह पुनः बोलता है–

"अरे कुमार! मैं तेरी माता का जनक हूँ तथा इस समय तपस्वी हूँ फिर भी तूने मद के वश में होकर मेरा विनय नहीं किया और उल्टे तू मेरे तपश्चरण की निंदा कर रहा है, क्यों? मेरा तप अज्ञान तप क्यों है? मैं पंचाग्नितप तप रहा हूँ, कभी एक पैर से तो कभी ऊर्ध्व भुजा करके ध्यान करता हूँ, भूख-प्यास की बाधा सहन करते हुए सूखे पत्ते से पारणा करता हूँ।

भगवान बोलते हैं–

"तपस्विन्! जिसमें छह काय के जीवों की हिंसा होती है वह तप कुतप ही है। सम्यग्ज्ञान के बिना कायक्लेश उत्तम फल को नहीं दे सकता है किन्तु जो तप जैनधर्म के अनुसार

है वही निश्चित रूप से वांछित फल को देने वाला है। मैंने तुम्हें हितकर वचन कहे हैं तुम इन पर विचार करो और जो उचित प्रतीत होवे उसे ही ग्रहण करो, व्यर्थ ही अपने मन को मलिन मत करो।"

इस प्रकार भगवान के उपदेश को सुनते हुए वे नाग युगल शरीर का परित्याग कर धरणेन्द्र और पद्मावती हो गये। अहो! उन सर्प युगल के धन्य भाग्य थे जिससे उन्हें अंत समय साक्षात् तीर्थंकर प्रभु के दर्शन हुए और उनकी दिव्य वाणी को पान करने का अवसर मिला।

यह तापसी कौन था? कमठचार जीव था वह आनंद मुनिराज की हत्या के पाप से पाँचवें नरक में जाकर सत्रह सागर की आयु तक असीम दुःखों को भोग कर वहाँ से निकला और बहुत काल तक अर्थात् तीन सागर तक पशु योनि में त्रस-स्थावर पर्यायों को धारण करते हुए पुनः कुछ कर्म भार के हल्के हो जाने पर महीपालपुर में राजा महीपाल हुआ जिसकी पुत्री वामादेवी थीं। कुछ समय के बाद पट्टरानी के मरण के अनंतर वियोगजन्य दुःख से दुःखी होते हुए तापसी वेष धारण कर लिया था। यह तापसी इस उपर्युक्त घटना के अनंतर कुछ दिन बाद मरण करके कुतप के प्रभाव से शंबर नाम का ज्योतिषी देव हो गया। सच ही है, अज्ञानतप भी जब देवगति को प्राप्त करा देता है तो सम्यग्ज्ञान सहित तप कौन-कौन से उत्तम फलों को नहीं देवेगा? अर्थात् सम्यक्तप मोक्ष तक भी प्राप्त करा देता है।

पुण्य के समुद्रस्वरूप भगवान पार्श्वनाथ के लिए भोजन, वस्त्र आदि वस्तुएँ इंद्र अपने स्वर्ग से ले जाकर प्रदान करता है। तीर्थंकर प्रभु गृहस्थावस्था में मर्त्यलोक का अन्न या वस्त्र नहीं ग्रहण करते हैं क्योंकि जब स्वयं इंद्र ही प्रभु का किंकर है तो फिर उन्हें अन्य के द्वारा किसी वस्तु के ग्रहण करने की आवश्यकता का प्रसंग ही क्यों आयेगा?

प्रभु तीस वर्ष की अवस्था में प्रवेश करते हुए किसी समय सुखपूर्वक बैठे हुए हैं उसी समय अयोध्या नरेश जयसेन महाराज का दूत आता है और नाना प्रकार की वस्तुएँ भेंट में रखकर नमस्कार करता है। भगवान उस दूत से कुछ क्षण बाद अयोध्या के वैभव को पूछते हैं तब वह कुशल दूत भगवान ऋषभदेव के अवतार का वर्णन करते हुए सविस्तार अयोध्या की संपत्ति का वर्णन कर रहा था।

इसी बीच में प्रभु पार्श्वनाथ सहसा विरक्तमना होकर चिंतवन करने लगे–"ओह! इन तीर्थंकरों ने उत्तम-उत्तम भोगों का परित्याग करके आत्मसिद्धि प्राप्त की है अब मेरी भी आत्मसाधना का समय हो चुका है। जब इंद्रों के वैभव से इस जीव की तृप्ति नहीं हो सकती है तो किंचित्मात्र मनुष्य भव के सुखों से क्या तृप्ति हो सकती है?

जब सागर के जल से तृष्णा नहीं बुझ सकती है तो क्या घास के ऊपर पड़ी हुई ओंस बिंदु से तृप्ति हो सकती है? असंभव है।"

जिस समय जिनराज बारह भावनाओं का चिंतन कर

रहे थे कि तत्क्षण ही लौकांतिक देव आकर पुष्पांजलि चढ़ा कर प्रभु चरणों की पूजा करके प्रभु के गुणों का कीर्तन करते हैं–

"हे देवादेव! आप धन्य हैं, आपकी निर्मल विचारसरणि धन्य है। हे दयानिधे! यह समय भी धन्य है कि आपने मोहसेना को जीतने के लिए तैयारी की है। नाथ! आज शिवकांता अपने सौभाग्य की सराहना कर रही है और उसी की प्रतीक्षा में वह आज तपस्या सखी को भेजकर आपको अपनी ओर शीघ्र ही आकर्षित करना चाह रही है। जगत् के जीवों का आज महान् पुण्य अवसर आया हुआ है जो कि आपने उनके उद्धार के लिए कदम उठाया है।" इत्यादिरूप से स्तुति करते हुए वे लौकांतिक देव अपने-अपने स्थान पर चले गये।

उसी समय आसन कंपित होने से सौधर्म इंद्र स्वयं प्रभु की सेवा में उपस्थित हो गया। असंख्य देव-देवियों ने बनारस नगरी को स्वर्ग से भी अधिक रमणीक बना दिया। जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश पूर्णतया व्याप्त हो गया। इंद्र ने प्रभु का अभिषेक करके उन्हें दिव्य वस्त्र, आभूषण पहनाकर 'विमला' नाम की रत्नपालकी में विराजमान किया। उस समय प्रभु साक्षात् मुक्तिवधू को वरण करने के लिए वर ही प्रतीत हो रहे थे। पहले उस पालकी को भूमिगोचरी राजाओं ने उठाया और सात पैंड तक ले चले पुनः विद्याधर राजागण सात पैंड तक लेकर चले। अनंतर इंद्रों ने श्री प्रभु की पालकी को अपने कंधों पर धारण किया और निमिषमात्र

में वे आकाश मार्ग से चलते हुए नगर का उल्लंघन कर "अश्व" नाम के वन में पहुँच गये। वहाँ पर वटवृक्ष के नीचे रत्नमयी शिला पर शची देवी ने रत्नों के चूर्ण से स्वास्तिक बनाया हुआ था।

प्रभु पालकी से उतरते हैं, कोलाहल शांत हो जाता है। जीवन-मरण, शत्रु-मित्र आदि में समभाव को रखने वाले तीर्थंकर भगवान इंद्र की प्रार्थना से मंगल स्वस्तिकासन पर उत्तर मुख कर स्थित हो जाते हैं और सिद्धों की वंदना करके वस्त्र-आभूषण का परित्याग कर केशों का पंचमुष्टि लोच करके परम दिगम्बर जिनमुद्रा को धारण कर भगवान यथाजात रूप हो जाते हैं। वह पौष वदी एकादशी मंगलमयी हो जाती है। उस समय प्रभु के साथ अन्य तीन सौ राजा भी दीक्षित हो जाते हैं। इंद्रगण प्रभु के इंद्रनीलमणि सदृश केशों को रत्नपिटारी में रखकर बड़े वैभव के साथ क्षीरसागर में विसर्जित करते हैं। इस प्रकार से अतुल महिमायुक्त निष्क्रमण कल्याणक महोत्सव मनाकर सुरेन्द्रगण अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

प्रभु ने दीक्षा लेते ही तेले का नियम कर लिया। भगवान की दीक्षा के समय की विशुद्धि का माहात्म्य कौन कह सकता है? जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान के धारी प्रभु को दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त में मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है। इस लघुवय में श्रीपार्श्वनाथ ने कामदेव की सेना को जीत कर निष्काम पद प्राप्त किया है ऐसे बालयती के पदकमल में मेरा अनंतशः नमस्कार होवे।

प्रभु को प्रथम ही आहार देने का सौभाग्य गुल्मखेटपुर के महाराज ब्रह्मदत्त को मिला था।

यद्यपि नाथ संपूर्ण प्राणियों के रक्षक थे तो भी मोह शत्रु को निर्मूल विध्वंस करने के लिए कटिबद्ध थे।

(12)

एक समय प्रभु योग में तन्मय हुए अपनी शुद्धात्मा के परमानंद अमृत रस का अनुभव ले रहे थे तभी आकाश मार्ग से गमन करते हुए शंबर नामक ज्योतिषी देव का विमान वहीं पर रुक गया। यह नियम है कि महापुरुषों के ऊपर से किसी भी देव या विद्याधर का विमान उल्लंघन कर नहीं जा सकता है। उसी समय अवधिज्ञान के बल से उस देव ने पूर्व भव के वैर का स्मरण किया और अत्यंत कुपित होकर के प्रभु के ऊपर घोर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया। प्रलय काल के उत्पात के समान भयंकर आँधी चलने लगी, पत्थरों की वर्षा होने लगी और मूसलाधार पानी बरसने लगा। उस समय जल और थल एक होकर सब महासागर सा दीखने लगा। विक्रिया बल से यह पापी कमठचर किलकिल शब्द करता हुआ महाबेताल का रूप लेकर अग्नि उगलने लगा। अधिक क्या कहना, उसने अनेक दुर्भेष धारण कर प्रभु के ऊपर भयंकर उपसर्ग किया किन्तु महामना प्रभु सुमेरु के समान अचल थे, परम सहिष्णु थे। जब प्रभु कई भवों तक इस पापी के उपसर्ग को सहन कर ही रहे थे तो पुनः अब तो वे साक्षात् तीर्थंकर थे, क्षमा की मूर्ति थे और कर्मशत्रु के

विजेता महाशूरवीर थे।

इस उपसर्ग के प्रसंग में सहसा धरणेन्द्र देव का आसन कंपायमान हो उठा। उसने अवधिज्ञान के बल से प्रभु के उपसर्ग को जाना और उनके द्वारा अपने प्रति किए गए उपकार का चिंतन करता हुआ तत्क्षण ही अपनी भार्या पद्मावती देवी के साथ वहाँ आ गया। देव दंपत्ति ने प्रभु की प्रदक्षिणा दी और बार-बार नमस्कार किया। प्रभु के मस्तक पर फण का छत्र तान दिया। धरणेन्द्र युगल को देखते ही वह पापी कमठचर भाग खड़ा हुआ।

प्रभु सातिशय अप्रमत्त अवस्थारूप निर्विकल्प ध्यान में स्थिर हो गये और इस सप्तम गुणस्थान से ऊपर चढ़कर क्षपक श्रेणी में आरोहण करते हुए दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का निर्मूल नाश करके बारहवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का विनाश कर दिया तथा आत्मा के अनंतगुणपुंज के साथ-साथ केवलज्ञानरूप परम ज्योति को प्राप्त कर लिया। तत्क्षण ही प्रभु पृथ्वी के ऊपर पाँच हजार धनुष प्रमाण (2000 हाथ प्रमाण) आकाश में पहुँच गए। इंद्रों के आसन कंपित होते ही सौधर्म इंद्र आदि सभी देव आ गये।

इंद्र की आज्ञा से कुबेर ने अभूतपूर्व समवसरण रचना कर दी। प्रभु का उपसर्ग दूर हो गया और उस पवित्र स्थान में अहिसर्प के रूप को धारण कर धरणेन्द्र ने प्रभु के ऊपर छत्र धारण किया था इसीलिए उस स्थान का 'अहिच्छत्र' यह

सार्थक नाम विश्व में प्रख्यात हो गया है। चैत्र कृष्ण त्रयोदशी के दिन इंद्रों ने आकर प्रभु का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया था।

भगवान् के समवसरण में प्रथम गणधर स्वयंभू स्वामी थे तथा अन्य और भी नव गणधर थे। कुल मिलाकर सोलह हजार मुनिराज, सुलोचना आदि को लेकर छत्तीस हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ और असंख्यात देव-देवियाँ तथा संख्यात तिर्यंच थे। ये सब भव्य जीव बारह सभाओं में बैठ कर उपदेश सुनते थे।

शंबर नाम का वह ज्योतिषी देव भी काललब्धि पाकर शांत हो गया और उसने प्रभु को बार-बार नमस्कार कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया। यह देख उस वन में रहने वाले सात सौ तपस्वियों ने भी मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदर के साथ प्रदक्षिणा देकर भगवान के चरणों में नमस्कार करने लगे। आचार्य कहते हैं "अहो! पापी कमठ के जीव का कहाँ तो निष्कारण बैर और कहाँ ऐसी शांति? सच कहा है कि महापुरुषों के साथ मित्रता तो दूर रही, शत्रुता भी वुद्धि का कारण होत है।"

"सख्यमास्तां विरोधश्च वृद्धये हि महात्मभिः।"[1]

बारह सभाओं के मध्य धर्मोपदेश करते हुए प्रभु ने पाँच माह कम सत्तर वर्ष तक विहार किय अंत में जब प्रभु

1. उत्तरपुराण पूर्व 73।

की आयु एक माह की शेष रह गयी तब वे विहार बंद कर सम्मेदाचल के शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय प्रभु ने शेष अघातिया कर्मों को भी निर्मूल करके यमराज के मान का मर्दन कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। उसी समय इंद्रों ने आकर प्रभु के निर्वाण कल्याणक महोत्सव की पूजा करके सातिशय पुण्य संचित करते हुए अपने जीवन को सफल बनाया।

श्री गुणभद्र आचार्य कहते हैं–

आदिमध्यांतगंभीराः सन्तोऽभोनिधिसन्निभाः।
उदाहरणमेतेषां पार्श्वो गण्यः क्षमावताम्।।170।।

जो समुद्र के समान आदि, मध्य और अंत में गम्भीर रहते हैं, ऐसे सज्जनों का यदि कोई उदाहरण हो सकता है तो क्षमावानों में गिनती करने योग्य भगवान पार्श्वनाथ हो सकते हैं।

तीर्थेशाः सदृशो गुणैरनणुभिः सर्वेऽपि धैर्यादिभिः।
सन्त्पप्यवमधीश विश्वविदितास्ते ते गुणाः प्रीणनाः।।
तत्सर्वं कमठात्तथाहि महतां शत्रोः कृतापक्रियात्।
ख्यातिर्या महती न जातुचिदसौ मित्रात्कृतोपक्रियात्।।

"हे स्वामिन्! धैर्य आदि बड़े-बड़े गुणों से यद्यपि सभी तीर्थंकर समान हैं तथापि सबको संतुष्ट करने वाले आपके जो गुण संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं वे सब एक कमठ के कारण ही प्रसिद्ध हुए हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि अपकार करने वाले

शत्रु से जो महापुरुषों की ख्याति होती है वह उपकार करने वाले मित्र से कभी नहीं होती।"

श्री पार्श्वनाथ और कमठ के पूर्व भव का एक सिंहावलोकन–

पार्श्वनाथ का जीव पहले मरुभूति हुआ, फिर सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर विद्याधर हुआ, फिर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर वज्रनाभि चक्रवर्ती, फिर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिंद्र हुआ, वहाँ से आकर आनंद नाम का राजा हुआ, फिर आनत स्वर्ग में इंद्र हुआ तदनंतर भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर होकर भव्य जीवों के लिए परम आश्रय स्वरूप हुआ है।

कमठ का जीव पहले मरुभूति का कमठ नाम का भाई था, फिर कुक्कुट सर्प हुआ, फिर पाँचवें नरक गया, फिर अजगर हुआ, फिर नरक गया, फिर भील हुआ, पुनः नरक गया, पुनः सिंह हुआ, पुनः नरक गया और फिर महीपाल राजा होकर शंबर देव हुआ है।

कमठ ने मरुभूति की भार्या के साथ व्यभिचार किया जिससे राजा अरविन्द ने कुपित हो उसे दंडित करके राज्य से बाहर निकाल दिया किन्तु मरुभूति उस समय भी उस भाई पर क्रुद्ध न होते हुए उसे वापस लाने हेतु खोजते हुए वहाँ पहुँचता है कि जहाँ पर कमठ तापसी वेष में हाथ में पत्थर की विशालकाय शिला लेकर तप कर रहा है। मरुभूति का मन सरल था, भाई का प्रेम उमड़ रहा था किन्तु कमठ ने

उसे ही अपना शत्रु समझ लिया और अत्यंत क्रोधावेश में अंधा होकर उसी के ऊपर अपने हाथ की शिला पटक दी।

फलस्वरूप वहीं से उसके संस्कार मरुभूति के प्रति क्रोध से बदला लेने के हो गये जो दश भव तक चलते रहे हैं। यह इकतरफा बैर का उदाहरण आप को इसी कमठ में मिलेगा, अन्यत्र नहीं। इतनी महान क्षमा तथा सहिष्णुता का उदाहरण आपको भगवान पार्श्वनाथ के दशभव के जीवन में ही मिलेगा। इसलिए यदि आपके मन में किसी अपकारी के प्रति कलुषता बैठी हुई है तो आप बार-बार पार्श्वनाथ का चारित्र पढ़िए, सुनिये और मनन कीजिये, आप में क्षमा गुण का विकास होगा जिसका फल कालांतर में बहुत ही मीठा मिलेगा और यदि आप उस कषाय कण को भीतर में लिये ही रहेंगे तो कमठ के समान आपकी हानि की संभावना हो सकती है अतः कषाय के एक कण को अग्नि से भी अधिक भयंकर समझकर उससे बचने की कोशिश करनी चाहिये और पार्श्वनाथ के श्रीचरणों में अनंत-अनंत नमस्कार करते हुए अपने मनुष्य जीवन को सफल करना चाहिए।

हमें कमठ जैसे क्रोध के संस्कार नहीं चाहिए किन्तु पार्श्वनाथ जैसे क्षमा के, सहिष्णुता के संस्कार चाहिए।

।।समाप्त।।